[ हिन्दू-समाज की कुरीतियों का सजीव चित्र ]

लेखक:—

श्री० ज़हूरबख़्श जी 'हिन्दी-कोविद'

प्रकाशक:—

'चाँद' कार्यालय,

इलाहाबाद

सितम्बर, १९२८

प्रथम संस्करण २,००० ]    [ मूल्य ३)

FIRST EDITION
Two Thousand Copies

---

*Printed and Published*
*by*
*R. SAIGAL*
*at*
*The Fine Art Printing Cottage*
*28, Elgin Road*
*Allahabad*

---

September
1928

उपहार

मुसलमान हिन्दुओं के पड़ोसी हैं। अतः यह अवश्यम्भावी है कि हिन्दुओं की सामाजिक परिस्थिति का कुछ न कुछ प्रभाव मुसलमानों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। आज मुसलमानों में जो थोड़ी-सी गुण्डाशाही उत्पन्न हो गई है, मेरी समझ में उसका कुछ न कुछ उत्तरदायित्व हिन्दू-समाज की शोचनीय परिस्थिति पर भी है। काम के उद्दाम परिपीड़न से व्याकुल हो या दूसरे सामाजिक अत्याचारों से त्रस्त हो या पेट की ज्वालाओं से विदग्ध हो, बहुत सी हिन्दू-विधवाएँ मुसलमान-गुण्डों के घर में आ बसती हैं। ये नारियाँ बहुधा आचरण-भ्रष्ट होती हैं। धर्म क्या चीज़ है, इसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकतीं। ऐसी कुविचारपूर्ण पतित नारियों से—गुण्डों के औरस से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह पतित ही होगी, उसके उच्चात्मा होने की आशा करना ही व्यर्थ है। मेरा

ख़्याल है कि आज मुस्लिम-समाज को बदनाम करने वाले गुण्डों की पैदायश इसी भाँति हुई है। मैं कट्टर मुसलमान हूँ, और मुझे यह देखकर बड़ा ही परिताप होता है कि इन कमीने गुण्डों के कालिमापूर्ण कृत्यों से पवित्र इस्लाम के उज्ज्वल ललाट पर बदनामी की कालिख लग रही है। अतः मैं चाहता हूँ कि मुस्लिम-समाज में गुण्डों की उत्पत्ति होने का एक कारण यह सर्वथा अनुचित नारी-निर्यातन एकबारगी बन्द हो जावे, क्योंकि ऐसी भ्रष्टाचरण नारियाँ किसी भी समाज का कल्याण नहीं कर सकतीं। हाँ, धर्म का महत्व समझकर, स्वेच्छा से जो धर्म परिवर्त्तन करें, उनकी बात दूसरी है।

आज हिन्दू-समाज का वातावरण अत्यन्त ही भयावह हो उठा है। धर्म और समाज के हृदय-हीन ठेकेदारों के कारण आज वे ही नारियाँ, जिनमें से न जानें कितनी सीता बन जातीं, कितनी दमयन्ती का पद प्राप्त कर लेतीं, कितनी सावित्री का सत्य ग्रहण कर लेतीं, कितनी द्रौपदी की तेजस्विता धारण करतीं-और जिनसे न जानें कितने राम, भरत, कृष्ण, वाल्मीकि, व्यास आदि उत्पन्न होते, गुण्डों की जननी बनने जा रही हैं—और धर्म-कर्म को जलाञ्जलि दे रही हैं। धर्म

और समाज के ठेकेदार अफ़ीमची के समान अपनी धुन में आँखें बन्द किए बैठे हैं और धर्म की—सतीत्व की विरासत बरबाद हो रही है, पर उन्हें इसकी रत्ती-भर भी परवाह नहीं है! कितने क्षोभ का विषय है!

यह सब देखकर मेरा कोमल हृदय क्षुब्ध हो उठा और मैंने विकृत रूप में यह पुस्तक लिख डाली। पता नहीं, हमारे हिन्दू-मुसलमान भाई मेरी इस कृति को किस दृष्टि से देखेंगे। जो कुछ भी हो, अभी मेरी इच्छा इस विषय पर एक बार और लेखनी चलाने की है, यदि हिन्दी-संसार ने इस पुस्तक को अपनाया और इसके क्रान्तिकारी प्रकाशक प्रियवर सहगल जी की कृपा हुई तो। अस्तु—

अन्त में मैं अपने श्रद्धेय मित्र श्री० केदारनाथ जी रोहण, बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०, एम० एल० सी० को हार्दिक धन्यवाद देकर अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ कि उन्होंने अनेक संस्थाओं के दुर्वह कार्य में व्यस्त रहते हुए भी इस पुस्तक की भूमिका परिश्रम-पूर्वक लिखने की कृपा की।

निवेदक,

—ज़हूरबख़्श

सागर,
१२।७।१९२८
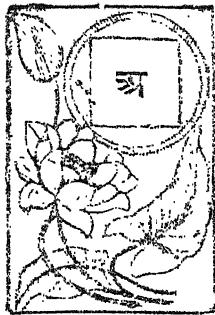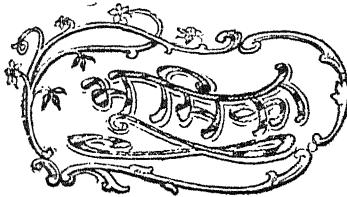
ध्यापक ज़हूरबख़्श जी 'हिन्दी-कोविद' से हिन्दी-संसार भली-भाँति परिचित है। आप मुसलमान होते हुए भी हिन्दी के अनन्य प्रेमी हैं। वैसे आपने आज तक हिन्दी के श्रेष्ठ मासिक पत्रों में अनेक बहुमूल्य लेख लिखकर हिन्दी की सेवा की है, पर अभी तक आपका विशेष ध्यान बालकोपयोगी और महिलोपयोगी ऐतिहासिक कहानियाँ तथा पुस्तकें लिखने की ओर ही रहा है। एक तो आप वैसे ही सहृदय और सत्यता के प्रेमी हैं, फिर आपने अधिक समय तक नारी-समाज तथा बाल-समाज से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य का विशेष अध्ययन किया है, जिससे आप में कोमल मनोवृत्तियों का अच्छा विकास हो गया है। और मैं समझता हूँ, उन्हीं कोमल-मनोवृत्तियों की प्रेरणा से आप प्रस्तुत पुस्तक रचने में समर्थ हो सके हैं।

इस पुस्तक में, पीड़ित व्यक्तियों की आत्म-कथा के रूप में, इस बात का बड़ी उत्तमता से दिग्दर्शन कराया गया है कि हिन्दू-समाज

में नारियों की स्थिति कैसी भयङ्कर है, और उन पर कैसे-कैसे लोमहर्षण अत्याचार किए जाते हैं। इन्हें पढ़ने से आनन्द तो नहीं आता, हाँ, हृदय करुणा से उमड़ अवश्य पड़ता है! हृदय की तन्त्री के तार करुणा के दारुण आघात से झनझना उठते हैं। एक बार समाज का भयावह चित्र सिनेमा के फ़िल्म की भाँति नेत्रों के सम्मुख घूम जाता है। सामाजिक अत्याचारों का नग्न-चित्र खींचने में लेखक ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का अनूठा परिचय दिया है। हमें तो यह जान पड़ता है कि आपका यह प्रयास समाज की आँखें खोलने और उसे सचेत करने में बिना सफलता पाए नहीं रह सकता।

इसकी भाषा के विषय में इतना कहना ही अलम् होगा कि वह विषय के सर्वथा अनुकूल हुई है। कहीं-कहीं आवेगपूर्ण भाषा का प्रवाह है, जो बड़ा ही मनोहारी है। हाँ, उसमें किसी-किसी को औचित्य की सीमा का उल्लङ्घन दिख सकता है, पर ध्यान रहे कि वह लेखक के विचार न होकर उस पीड़ित व्यक्ति के हृदय से निकला है, जो सामाजिक अत्याचार की चक्की में बड़ी बेरहमी से पीस दिया गया है। अतएव हृदय में शान्त रूप से उस पीड़ित व्यक्ति की दशा की अनुभूति करने पर हमें तो वह औचित्यपूर्ण ही जान पड़ती है। आर्त्त-जनों की आहों का ज्वालामय होना अनिवार्य ही है। यदि उन आहों में दाहकता न रहेगी, तो भाषा व वर्णन में निर्जीवता आ जायगी।

कोई महानुभाव यह विचार न कर बैठें कि लेखक एक मुसलमान सज्जन हैं, अतएव उन्होंने हिन्दू-समाज की निन्दा के उद्देश्य से बात का बतङ्गड़ बनाकर ये कल्पित कहानियाँ गढ़ डाली हैं। ऐसे

महानुभावों को आपका सुविशाल ग्रन्थ 'चन्द्रहार' * तथा अन्य पुस्तकें पढ़नी चाहिए। उनसे पता चलेगा कि आपने हिन्दू-जाति की वीरता, धीरता, सतीत्व आदि गुणों को कैसी तल्लीनता, कैसी निष्पक्षता तथा कैसी विदग्धता से अङ्कित किया है। हाँ, प्रस्तुत पुस्तक में आपका ध्यान समाज के अत्याचारों को अङ्कित करने की ओर रहने से आपने हिन्दू-समाज के एक सदोष पहलू का ही चित्र खींचा है; और वह भी इस उद्देश्य से कि समाज चेते और अपनी स्थिति देखे।

हिन्दुओं की संख्या का दिन-प्रतिदिन जो ह्रास हो रहा है, उसका कारण इस पुस्तक में बड़ी ही स्पष्टता से दिखाया गया है। हिन्दुओं की स्त्रियों का विधर्मियों की अङ्कशायिनी बनने और हिन्दू-समाज की मर्यादा को भङ्ग करने का दोषी आपने हिन्दुओं को ही ठहराया है, जो अनेक अंशों में निर्भ्रान्त सत्य है। अछूत कहलाने वाले हिन्दू, हिन्दू-समाज से किस प्रकार अपमानित और पीड़ित किए जाते हैं, फिर वे ही विधर्मी हो जाने पर किस प्रकार हिन्दू-समाज द्वारा सम्मानित होते हैं, यह सब मूर्खता हिन्दू-समाज के पतन का किस प्रकार कारण हो रही है, यह भी आपने ख़ूब दिखलाया है। दहेज़ की कुप्रथा, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह और नारी-समाज की अवहेलना तथा पुरुषों के आधुनिक अत्याचार तथा पक्षपात का वर्णन इस प्रकार किया गया है, मानों लेखक महाशय स्वयं इनके द्रष्टा या साक्षी हों।

साम्प्रतः काल में हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था बहुत बिगड़

---

* यह विशाल ग्रन्थ शीघ्र ही 'चाँद' कार्यालय से प्रकाशित होगा।

गई है। अब यह व्यवस्था हिन्दू-समाज को असहनीय एवं भारवत् प्रतीत हो रही है। परन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि व्यक्तियों से समाज बना है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि व्यक्तियों का समूह ही समाज है। इन व्यक्तियों की सुविधा के हेतु—समाज को सुव्यवस्थित रखने के हेतु—सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। ध्यान रहे कि प्रत्येक देश की जल-वायु के अनुसार व्यक्तियों के स्वभाव और रहन-सहन में अन्तर हुआ करता है और इसी कारण प्रत्येक देश के समाज में भिन्न-भिन्न आचारादि होते हैं—भिन्न-भिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भिन्न-भिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ होती हैं; क्योंकि अवस्था के अनुसार ही व्यवस्था होती है।

साथ ही यह तो मानना ही पड़ता है कि मनुष्य-समाज परिवर्त्तनशील है—जो कल था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह भविष्य में न रहेगा। इसी से प्राचीन विवेचकों ने, परिवर्त्तन-शील संसार में अवस्था के अनुसार व्यवस्था देने के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न स्मृतियों—क़ानूनों की रचना की थी। केवल अटल सत्य, जो सार्वकालिक और सार्वदेशिक है, वही सम्पूर्ण स्मृतियों में एक रूप से पाया जाता है। जो व्यवस्था देश, काल और पात्र के अनुकूल नहीं होती, वह समाज में बहुत दिन तक नहीं ठहर सकती। समाज के व्यक्तियों की असुविधा उस व्यवस्था के बाँध को तोड़ देती है।

आज हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में असन्तोष फ़ैल रहा है। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था वैज्ञानिक नियमों पर

अवलम्बित होने के कारण समाज की स्थिति में सहायक है, तो भी वर्ण-व्यवस्था की ओट में जाति-प्रथा का होना कभी स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। आज वर्ण-व्यवस्था को जाति-प्रथा ने दबा रक्खा है। इस जाति-प्रथा ने हिन्दू-समाज को सहस्रों भागों में विभक्त कर दिया है, जिससे इसकी सामाजिक शक्ति शिथिल हो गई है। अब यदि ध्यान से देखा जाय, तो चार वर्णों की ओट में इस जाति-प्रथा के होने से भयङ्कर शैथिल्य और असुविधा हो गई है। उदाहरण-स्वरूप महाभारत-काल में ब्रह्मर्षि जमदग्नि रेणुका क्षत्राणी से विवाह करते हैं और उस विवाह से होने वाले परशुराम ब्राह्मण-कुल-भूषण समझे जाते हैं। इसी प्रकार राजर्षि ययाति ब्राह्मण शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से विवाह करते हैं। पर आधुनिक जाति-प्रथा में एक ब्राह्मण-वर्ण के ही सैकड़ों दल हो गए हैं और ये दल भी तड़-बन्दियों में विभक्त हैं। अब इनमें खान-पान का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता—बेटी-व्यवहार तो दूर की बात है। इसी के आधार पर "तीन ब्राह्मण, तेरह अँगीठी" नामक कहावत बन गई है। इसी तरह अन्य वर्णों की भी दशा है। इस प्रकार क्षेत्र के अत्यन्त सङ्कुचित हो जाने के कारण हिन्दू-जाति में विवाह-सम्बन्ध करने में बड़ी आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। न तो योग्य वर को योग्य कन्या मिलती है और न योग्य कन्या को योग्य वर ही मिलता है। छोटी-सी टुकड़ी के अल्प संख्यक जाति-समूह में वर-कन्या का अच्छा चुनाव होना असम्भव ही है। परन्तु इन्हीं में निर्वाह करना आवश्यक है; क्योंकि आज समाज की व्यवस्था ही ऐसी हो रही है। इसी के कारण बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, दहेज़ आदि कुप्रथाएँ ज़ोर पकड़ गई हैं। यदि सामाजिक

स्थिति सुधारनी है, तो महात्मा गाँधी के इन शब्दों को स्मरण रखना चाहिए कि, 'वर्ण-व्यवस्था से जीवन है और जाति-प्रथा से सर्वनाश !'

श्री० ज़हूरबख़्श जी की अनेक बातें बहुत ही विचारपूर्ण हैं। समाज की व्यवस्था ठीक न होने से व्यक्तियों पर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं, किस प्रकार समाज की चिनगारियों से सैकड़ों आत्माओं को अपना धन, जन और धर्म-कर्म आदि दग्ध करना पड़ता है—इसे अङ्कित करने में आपने बड़ी स्पष्टता और विदग्धता से काम लिया है। आपकी प्रत्येक कथा विशेष ध्यानपूर्वक पठनीय है। कथाएँ कैसी उत्कृष्ट हुई हैं, इसका अनुमान इसी से कर लेना चाहिए कि हिन्दी की सर्व-श्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'चाँद' में ये धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुकी हैं। 'अछूत की आत्म-कथा' हिन्दी के सर्व-श्रेष्ठ दैनिक 'आज' में उद्धृत की गई थी। यह कथा और भी कई साप्ताहिक पत्रों में उद्धृत हुई थी। इतना ही नहीं, गुजराती के सुप्रसिद्ध प्रकाशक 'सस्तुं साहित्य-वर्द्धक कार्यालय' से 'शुभ संग्रह' नाम का जो भारी ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, उसमें भी इस कथा को सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया है और संग्रह के सम्पादक ने इस पर महत्वपूर्ण टिप्पणी भी की है। मराठी के दो-एक पत्रों में भी इसका अनुवाद निकल चुका है। पञ्जाब के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'प्रताप' (उर्दू) में भी इस पुस्तक की दो-एक कथाओं के अनुवाद प्रकाशित हुए थे। समय-समय पर हिन्दी के अनेक पत्रों ने भी इन कहानियों की प्रशंसा की थी। अस्तु—

आशा है कि हिन्दी-संसार इस पुस्तक का यथोचित सम्मान

करेगा और समाज के सहृदय व्यक्ति इसे पढ़कर और नहीं तो एक बार ठण्ढी साँस तो अवश्य ही लेंगे।

अन्त में हम ज़हूरबख़्श जी से यह कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं कि अभी समाज को अनेक चिनगारियों की दाहकता दिखाने की बड़ी आवश्यकता है, और यदि आप यह कार्य कर डालें तो आप हिन्दी की सेवा के साथ ही समाज पर एक बड़ा उपकार करेंगे।

सागर
१५। ५। १९२८

—केदारनाथ रोहण
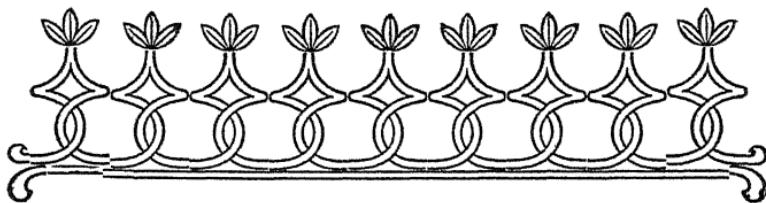
# समाज की चिनगारियाँ

## एक मुसलमान की आत्म-कथा

साढ़ का महीना था। शाम हो चुकी थी। रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। मैं लालटेन जलाकर बराम्दे में बैठा ही था कि मेरे मित्र मुन्शी अब्दुल-हमीद आ पहुँचे। मैं जिस स्कूल में शिक्षक था, उसी में अब्दुल हमीद भी शिक्षक थे। मैं कट्टर ब्राह्मण था, अब्दुल हमीद धर्मनिष्ठ मुसलमान थे, पर हम दोनों में गहरा स्नेह था। यद्यपि अब्दुल हमीद अपने धर्म के अच्छे ज्ञाता थे, पर वे कट्टर मुसलमान न थे। हिन्दू-धर्म पर उनकी पूरी श्रद्धा थी। हिन्दी-भाषा पर तो उनका बड़ा

ही स्नेह था। हिन्दी-कविता के वे अच्छे मर्मज्ञ थे। उनके इस आचरण से मैं उन पर ही नहीं, इस्लाम-धर्म पर भी श्रद्धा करने लगा था। मैं मन ही मन कहता था—अहा! कैसा पवित्र मुसलमान है! यदि देश में ऐसे मुसलमान अधिकता से होते, तो यह कभी का स्वर्ग बन गया होता। शाला के अन्य हिन्दू-शिक्षक हम पर फ़ब्तियाँ छोड़ते और कहते—अहा! हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का कैसा सुन्दर नमूना है। पर इन फ़ब्तियों का हम पर कोई प्रभाव न पड़ता। उलटा हम लोग मन ही मन इस पवित्र मिलन पर गर्व से फूल उठते थे।

हमीद को देखते ही मैं खिल उठा। मैंने उनसे कहा—जनाब, आसमान में कैसी घटाएँ घिर रही हैं, पानी थोड़ा-थोड़ा करके दिनभर से गिर रहा है, सड़कें कीचड़ से लथपथ हो रही हैं; फिर भी आप घर से निकल पड़े—बड़ी मिहरबानी की!

"पण्डित जी, क्या करूं, जी नहीं मानता—आपकी मुहब्बत खींच ही लाती है। सोचा, घड़ीभर आपके पास ही बैठूँगा। जी तो बहलेगा।"—यह कहते-कहते हमीद-ख़ाँ मेरे सामने वाली कुर्सी पर बैठ गए।

आज शाला में शिक्षकों ने हम लोगों की एकान्त मित्रता पर कितने ही व्यङ्ग-बाण बरसाए थे। मैंने उनके बैठते ही उनसे कहा—भई, हम लोगों का यह प्रेम-भाव

इनकी आँखों में शूल-सा खटकता है! तुम इतने लोगों के होते हुए मुझी से क्यों यह प्रेम का नाता जोड़ रहे हो? जान पड़ता है, हम-तुम पूर्व-जन्म के सहोदर हैं। बिना ऐसा हुए यह प्रेम-तन्तु इतना दृढ़ कैसे हो जाता?

हमीद ने मुस्कराकर कहा—सम्भव है, ऐसा ही हो।

मैं क़हक़हा मारकर हँस उठा। मैंने कहा—भई, तुम लोग तो पूर्व-जन्म को मानते ही नहीं, आज यह 'सम्भव है' क्यों?

"पण्डित जी, इसमें सम्भव-असम्भव का सवाल ही क्या? हमारे-आपके विचार मिलते हैं, मैं आप पर स्नेह करता हूँ, आप भी अपने हृदय में मुझे स्थान देते हैं। इस पर लोग-बाग जलते हैं, तो जला करें।" यह कहते-कहते हमीद ख़ाँ का मुखड़ा उतर गया।

यह देख मेरे हृदय पर बड़ी ठेस लगी। मैंने उनसे प्रेमपूर्ण स्वर में कहा—भाई, मैंने तो आपसे ऐसी कोई बात नहीं कही, जिससे आप दुखी होते। क्या आप मेरी प्रेम-भरी बातों पर बुरा-मान गए?

हमीद—आपकी बातों का बुरा क्यों मानूँगा? कुछ नहीं, ऐसे ही पिछली बातें याद आ गईं। हाय! मेरे वे दिन नहीं रहे, नहीं तो हमारी इस पवित्र मित्रता का लोग मज़ाक़ ही क्यों उड़ाते? यह कहते-कहते उनकी आँखें छलछला आईं, गला रुँध गया।

उनकी यह दशा देख, मैं घबरा उठा। कुर्सी ज़रा उनके पास सरकाकर सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कहा—भाई, आख़िर बात क्या है? इतने दुखी क्यों होते हो? तुम्हारी इन बातों से मुझे बड़ा दुख हो रहा है। अपने दुख का कारण शीघ्र कहो।

कमरे में सन्नाटा छा गया। थोड़ी देर में उस सन्नाटे को भङ्ग करते हुए हमीद ख़ाँ कहने लगे—भाई, इस परदेश में तुम्हारे सिवा मेरा और कौन बैठा है? मित्र कहो तो तुम हो, हितू कहो तो तुम हो। जब तुम्हीं से अपने आकुल हृदय की व्यथा न कहूँगा तो किससे कहूँगा? उफ़! वे दिन कैसे थे! उन दिनों मैं क्या था, अब क्या हो गया हूँ! उन दिनों की याद आते ही जैसे मेरे रोम-रोम में दुख का दावानल धधक उठता है, सिर पर एक ख़ब्त सवार हो जाता है; और भाई, बुरा न मानना, जी यही चाहता है कि तुम्हारे इस भीषण एवम् नारकीय हिन्दू-समाज को लातों से कुचल डालूँ।

सचमुच में हमीद का मुखड़ा रुद्र-मूर्त्ति धारण कर रहा था। आँखें अङ्गार के समान लाल हो रही थीं। यह देखकर मैंने उनकी पीठ पर हाथ फेरा और कोमल स्वर में कहा—भाई, आप क्यों दुखी हो रहे हैं? हिन्दू-समाज ने आपके साथ ऐसी क्या ज़्यादती की है? कहिए तो, मैं भी सुनूँ।

हमीद ख़ाँ उसी स्वर में कहने लगे—आप हिन्दू-समाज की ज़्यादती पूछते हैं? भाई, हिन्दू-समाज जितनी भी ज़्यादती कर डाले, थोड़ी है। वह अपने ही बच्चों पर भोंथरी छुरी चलाता है, इससे बढ़कर ज़्यादती क्या होगी? उफ़! वे बातें याद कर आज भी हृदय में एक भयङ्कर तूफ़ान आ जाता है। पर नहीं, तुम्हें वे सब बातें सुनाकर आज उस तूफ़ान के वेग को कुछ कम करूँगा। हृदय पर जो भारी बोझ रक्खा है, उसे कुछ हलका करूँगा।

"पण्डित जी, आप जानते हैं कि मैं मुसलमान हूँ—कट्टर मुसलमान हूँ! हाँ, मैं कट्टर मुसलमान हूँ; पर आप जानते हैं, मुझे मुसलमान किसने बनाया है? आपके हिन्दू-समाज ने ही मुझे कट्टर मुसलमान बनाया है! मैं उसी पिशाच-समाज का एक अभागा पुत्र हूँ। मैंने एक कुलीन ब्राह्मण के यहाँ जन्म लिया था! पर उस समाज ने मुझे अपने निर्दय हाथों से मृत्यु के मुखड़े में ढकेल दिया! उफ़! वह कथा बड़ी हृदय-वेधी है! कृपया मेरा यह बयान औरों से न कहिएगा, नहीं तो मैं लोगों की नज़रों में गिर जाऊँगा!"

हमीद की ये बातें सुनकर मैं सन्नाटे में आ गया, और आश्चर्य-चकित हो, उनकी ओर ताकने लगा। मैंने धीरे से कहा—तो आप जन्म से ब्राह्मण हैं! फिर मुसलमान क्योंकर हो गए?

अब तक उनका क्रोध शान्त हो चुका था। मुखड़े पर एक प्रकार की कोमलता छा रही थी। नरमी से बोले—भाई, वही सब मैं सुनाता हूँ! मेरी आत्म-कथा बड़ी ही वेदनामयी है! उसके सुनने से आपको इतना अवश्य मालूम हो जायगा कि हिन्दू-समाज किस प्रकार अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहा है। अच्छा, तो आप मेरी कथा ध्यान से सुनिए :—

"मैं इस ओर का रहने वाला नहीं हूँ। मेरा जन्म-स्थान मध्यप्रदेश में है। मेरे पिता एक कुलीन और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। घर के आसूदा थे। ज़मीन-जायदाद, घर-मकान, खेती-किसानी—सभी कुछ था। पुरोहिती से भी अच्छी आमदनी हो जाती थी। जाति-बिरादरी में उनका यथेष्ट सम्मान था। वे अपनी सब गृहस्थी लेकर नगर में हा रहते थे, खेती-किसानी देखने छठे-छमासे गाँव भी हो आते थे। वे पुराने विचार के आदमी थे, और प्राचीन परिपाटी पर ही चलते थे। समाज का उन्हें बड़ा डर रहता था। अपनी नाक बनाए रखने के विचार से समाज की उचित-अनुचित सभी प्रणालियों का समर्थन करते और चलते भी उसी के पीछे थे।

मैं अपने पिता का तीसरा बेटा था। मुझसे बड़े दो भाई और थे। बड़े भाई खेती-किसानी और गाँव का काम देखते थे। मझले भाई ने पुरोहिती पसन्द कर ली थी,

पर मेरी इच्छा अङ्गरेज़ी पढ़ने की ओर थी। जब मैंने प्राइमरी परीक्षा पास की और अङ्गरेज़ी पढ़ने का विचार प्रकट किया, तब पिता जी सोच-विचार में पड़ गए। पहले तो टालटूल करते रहे, पर माता और भाइयों के कहने-सुनने से मान गए। मैं अङ्गरेज़ी पढ़ने लगा। अङ्गरेज़ी की ओर मेरा वह झुकाव देखकर पिता जी बहुत प्रसन्न होते। कहते—यह अङ्गरेज़ी पढ़ लेगा, बड़ा दर्जा पाएगा; घर का भी नाम बढ़ेगा।

जिस साल मैंने मिडिल-परीक्षा पास की, उसी साल बड़ी धूम-धाम से मेरा विवाह हो गया। लड़की वाले भी काफ़ी श्रीसम्पन्न थे। दस-बारह गाँव के जमींदार थे। उन्होंने मुझे बड़ी खोज और परेशानी से प्राप्त किया था। उनका दृढ़ विश्वास था कि मेरे साथ उनकी पुत्री तो सुखी रहेगी ही, पर जब मैं अङ्गरेज़ी पढ़कर छोटा साहब हो जाऊँगा, तब उनका गौरव और मान भी बहुत बढ़ जायगा। बेचारे इसी मिथ्या लालसा पर एक प्रकार से बलिदान हो गए। उन्होंने विवाह में दिल खोलकर ख़ूब ख़र्च किया। लड़की के नाम से उन्होंने पिता जी को प्रचुर दहेज दिया। कितनी ही गाड़ियाँ लदवाकर हम लोग मनुष्यों की उस हँसी-ख़ुशी और बाजों की विजय-ध्वनि के बीच घर लौटे।

जिन दिनों मैं मैट्रिक में पढ़ रहा था, उन्हीं दिनों गौना

हो गया। मेरी प्यारी पत्नी ससुराल में आ गई। उस ससुराल में, जहाँ उसका कोई सगा न था, न उस पर कोई ममता करने वाला ही था। मेरी पत्नी मुझसे चार बरस छोटी थी। उस समय वह यौवनावस्था में प्रवेश कर रही थी। उसका मुखड़ा गुलाब के पुष्प के समान खिल रहा था। स्त्री-सुलभ लज्जा, कोमलता और भोलेपन ने उस मुखड़े की शोभा सौगुनी बढ़ा दी थी। यद्यपि वह पढ़ी-लिखी न थी, पर उसमें सद्‌गुणों की कमी भी न थी। वह कितनी गम्भीर थी, कितनी बुद्धिमती थी, कितनी पति-प्राणा थी, गुरुजनों की कैस आज्ञाकारिणी थी! उसके सद्‌गुणों की स्मृति से आज भी मैं व्याकुल हो उठता हूँ—मन-प्राण कैसे बेचैन हो उठते हैं। उफ़! विधाता कैसा निर्दयी है! उसने असमय में ही अपने कठोर वज्र से उस कोमल कुसुम को धूल में मिला दिया।

हाँ, तो मुझे प्यारी पत्नी मिली। उसके निर्मल प्रेम ने, उसकी एकान्त सेवाओं ने मुझे उस पर निछावर कर दिया। मैं उस लक्ष्मी पर प्राण देने लगा। हम दोनों के दिन बड़े ही आनन्द से—बड़े ही दुलार से बीतने लगे। पर इसी समय से सुखाकाश में दुख के धूमकेतु का उदय होना प्रारम्भ हुआ। उस समय हम लोगों का नया-नया प्रेम था—जीवन उमङ्गों से भरा हुआ था; अतः हम लोगों ने उस धूमकेतु की ओर उपेक्षा से देखा। उफ़! मनुष्य के

जीवन में कभी-कभी कैसी ग़लतियाँ हो जाती हैं। वह भविष्य के सुख की मधुर कल्पना में अपना वर्त्तमान, भविष्य और जीवन तक—सब कुछ नष्ट कर देता है। उस धूमकेतु को देखकर, यदि उसी समय मैंने अपने कर्त्तव्य पर भली-भाँति विचार कर लिया होता, तो प्रेम की उस देवी से शायद हाथ न धो बैठता और कौन कह सकता है, जन्म-भूमि को अन्तिम प्रणाम कर, धर्म-भ्रष्ट हो, मैं इस प्रकार आपके सामने बैठा होता ?

बात यह है कि हमारा भारतीय समाज नैतिक आदर्श में बहुत ही पतित हो चुका है। कुछ सामाजिक बुराइयाँ ऐसी हैं, जो क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या जैन—सभी जातियों में समान-रूप से आसन जमा बैठी हैं। पहले तो हमारे माता-पिता को इस बात की बड़ी चाह रहती है कि हमारे घर में नन्हीं-सी बहू आए और हमारे घर में उजेला हो जाय। पर जब तक घर में बहू के पैर नहीं पड़ते, तभी तक उनकी यह चाह रहती है। बहू घर में आई नहीं कि सास की प्रसन्नता खिन्नता में बदल जाती है। जिस सास का कर्त्तव्य बहू को बेटी के समान समझने का है, जिस ननद का कर्त्तव्य भौजाई को बहिन के समान समझने का है, वही सास बहू की और वही ननद भौजाई की जानी दुश्मन बन जाती हैं। इतना ही नहीं, यदि बेटा बहू पर प्रेम करता है, तो वह भी उनकी आँखों में खटकने लगता है।

बहू के आने के पहले वे जिस बेटे की गालियों को भी बाल-लीला समझती हैं, बहू के आने पर उसी बेटे की सेवा भी नहीं भाती। बहू-बेटे के एकान्त प्रेम को वे कभी बर्दाश्त नहीं कर सकतीं! उनका ख़्याल हो जाता है कि जो बेटा अब तक हमारा था, जिस पर अब तक हमारा ही अधिकार था, अब वह दूसरे का हो गया है—उस पर दूसरे ने अधिकार कर लिया है। परमात्मा से वे बेटे के लिए प्रार्थना करती हैं, उसकी कुशल-कामना करती हैं; पर जब वह उनके सामने पहुँचकर उनसे मीठी-मीठी बातें करना चाहता है, तब वे मुँह बना लेती हैं। परिणाम यह होता है कि वे हृदय से तो बेटे को अपनी ओर खींचना चाहती हैं, पर वह एक प्रबल थपेड़े से—एक प्रबल आकर्षण से—बहू की ओर खिंचता जाता है! माँ-बेटे का अन्तर दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। गृहस्थी कलह की रङ्ग-भूमि हो जाती है। मुझे भी इसी परिस्थिति से मुक़ाबला करना पड़ा। पर मैंने मुक़ाबला करने से लापरवाही दिखलाई, जिससे मेरी पराजय हुई और मैं प्रेम के उस पवित्र राज्य से हाथ धो बैठा!

मैंने प्यारी धर्म-पत्नी पाई थी, गृहलक्ष्मी पाई थी, प्रेम का देवी पाई थी! पर इससे क्या? घर वालों ने तो एक दासी पाई थी—ऐसी दासी पाई थी, जो बिना मोल मिली थी और साथ में धन की गठरी भी लाई थी। मेरी प्यारी

पत्नी थोड़े दिन भी आराम से न रहने पाई थी कि उस पर बिना विचारे उस भारी गृहस्थी का बोझा लाद दिया गया। माता जी ने तो पहले से ही गृहस्थी से हाथ खींच लिया था, अब भौजाइयों की भी बन आई। बड़ी भौजी के सिर में हमेशा दर्द रहने लगा और मँझली भौजी बुख़ार की हरारत से परेशान रहने लगी। ऐसी दशा में घर-गृहस्थी का काम कौन सँभालती ? मेरी पत्नी सबसे छोटी थी, गुरुजनों की सेवा करना उसका परम धर्म था। घर में जो महरी थी, मेरी पत्नी के आने के थोड़े दिन बाद वह भी अलग कर दी गई थी। अर्थात् उसे महरी से भी कठिन कार्य सौंपा गया था, क्योंकि वह उस घर की बहू थी न ? बेचारी दो घड़ी रात रहे ही गृहस्थी के धन्धों में लग जाती थी और दिनभर काम करती रहती, तब कहीं ग्यारह बजे रात को छुट्टी पाती थी। वही अपने हाथों कूटती-पीसती, रसोई करती, सबको खिलाती-पिलाती और बर्तन साफ़ करती थी। सास और दोनों जेठानियों की धोतियाँ तक भी उसे ही धोनी पड़ती थीं, उनकी सेवा-टहल का भार भी उसी पर था। इतने पर भी उस घर में उससे कोई दो मीठी बातें करनेवाला तक न था—उलटे उस पर दिन-रात डाँट-डपट ही पड़ती थी !

माता जी भी अपनी दोनों बहुओं का ही पक्ष लेती थीं, क्योंकि वे मेरी पत्नी से बड़ी थीं, और उससे सेवा

कराने का उन्हें अधिकार था। यदि कभी उसकी तबीयत भी बिगड़ जाती, तो वह काम न करने का बहाना समझा जाता था, क्योंकि वह छोटी थी न? और छोटे लोगों में खोटी बातें बहुत होती हैं! उस दिन घर में कुहराम-सा मच जाता था। भौजाइयाँ मुझे ताने देकर कहतीं—लल्ला! दुलहिन को तो ख़ूब सिखाया! घर का काम करते इसकी छाती फटती है। जब अभी से इसका यह हाल है, तो आगे तुम्हारी गृहस्थी चल चुकी। औरत ज़ात को इतना सिर चढ़ाना अच्छा नहीं। हम तो तुम्हारे भले की ही कहती हैं, तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।

माता जी कहतीं—हाँ बेटा! ये सच ही कहती हैं। तेरी दुलहिन दिनभर में जितना काम करती है, उतना तो जब मैं इसकी उमर की थी, बात करते कर डालती थी! तेरी ही शह पाकर यह ऐसी हो रही है। ऐसी औरत तो मैंने देखी ही नहीं, जब देखो तब अपना शरीर ही निरखा करती है। कभी-कभी दो-चार धौल-धप्पे जमा दिया कर, तब आप ही ठीक हो जायगी।

मैं सुन तो सबकी लेता, पर करता मन की ही था। इससे घर की सभी स्त्रियाँ मुझ पर नाराज़ रहतीं और कहती थीं—'इसे तो बहू ने अपने वश में कर लिया—जादू जानती है जादू! तब तो वह उससे आधी बात भी नहीं कहता!' उनकी ऐसी-ऐसी कटु बातें सुनकर भी मुझे हँसी

आ जाती थी ! उन लोगों की बड़ी इच्छा रहती थी कि मैं अपनी पत्नी को पीटूँ, पर यह इच्छा पूरी न होती देख, वे मुझसे बहुत ही कुढ़ जाती थीं।

स्त्री सब कुछ सह सकती है, घर के सब लोग उसका तिरस्कार करें, उसे कितना ही दुख देवें, पर वह उनकी उतनी चिन्ता नहीं करती, यदि पति का प्यार उसे मिलता रहे। पति उसका थोड़ा-सा भी तिरस्कार करे, तो वह उसे सहन नहीं कर सकती, उससे उसका रोम-रोम दुखी हो उठता है। जब रात्रि को वह मेरे पास आती, तब मैं उसका वही अम्लान मुखड़ा देखता, उस पर उसी प्रसन्नता की झलक पाता। यदि कभी मैं झूठ-मूठ ही उसे झिड़क देता, तो घर वालों का अत्याचार उसे व्याकुल कर देता, और वह सिसक-सिसककर रोने लगती। जब मैं उससे दो मीठी बातें कहता और अपने हाथों उसके आँसू पोंछ देता, तब उसके मुख-मण्डल पर वही प्रसन्नता नाचने लगती। उसने कभी घर वालों के अत्याचार की शिकायत मुझसे न की। जब कभी मैं उससे पूछता भी कि कैसा क्या हाल है? तब वह प्रसन्नता से यही जवाब देती—'सब ठीक ही तो है।' उफ़ ! वह अशिक्षित देहाती रमणी कैसी कष्ट-सहिष्णु और गम्भीर थी !

मैट्रिक होते ही मैं कॉलेज जाने का तैयारियाँ करने लगा। मेरे इस विचार के प्रकट होते ही पत्नी के चेहरे

पर उदासी छा गई। जिस दिन मैं कॉलेज जाने वाला था, उस दिन वह बहुत उदास रही। उस दिन उसने मुझसे कहा—क्या तुम मुझे छोड़कर चले ही जाओगे? हाय! अब मैं किसे देखकर अपना जी बहलाऊँगी? किसे देखकर वियोग के ये दिन बिताऊँगी? किसे देखकर अपने दुखी चित्त को हँसाऊँगी? क्या अब और आगे पढ़े बिना काम न चलेगा? क्या इतना पढ़ने पर भी हमें पेट के लिए दो रोटियाँ न मिलेंगी?

मैंने उसका चिबुक पकड़कर कहा—प्रिये! इतनी व्याकुल न हो। जैसे अब तक रहती आई हो, वैसे अब भी रहना! जैसे बने इन दुख के दिनों को बिता देना। दुनिया में सुख-दुख साथ-साथ ही चलते हैं। बिना दुख के दिन देखे सुख के दर्शन नहीं होते। चार बरस बहुत नहीं होते, फिर तो हमें हमेशा सुख के बीच में ही रहना है। मैं रहूँगा तो वहाँ, पर जी तुम्हीं में लगा रहेगा। छुट्टियाँ होते ही यहाँ आया करूँगा।

मेरी बातें सुनकर उसने कहा तो कुछ नहीं, पर उसके कमल-नेत्र छलछला आए और उनसे बड़े-बड़े मोती बरसने लगे। किसी प्रकार उसे समझा-बुझाकर और घर वालों से मिल-भेंटकर मैंने कॉलेज की राह ली।

मैं कॉलेज में पढ़ता था, मित्रों के साथ मनोविनोद में भाग लेता था, यहाँ-वहाँ सैर-सपाटे भी खूब करता था;

पर मेरा मन घर में ही रक्खा रहता था—सदा पत्नी की चिन्ता बेचैन किए रहती थी। न जाने उसके दिन किस तरह बीतते होंगे, उसके मन की क्या दशा होती होगी, घर वाले मेरी ग़ैरहाज़िरी में उसे न जाने किस-किस ढङ्ग से सताते होंगे, यही बातें मेरे मन में चक्कर लगाया करती थीं। छुट्टी होते ही मैं कितनी-कितनी अभिलाषाएँ लेकर रेल में सवार होता था। जब तक घर न आ जाता, मेरा चित्त कितना बेचैन, कितना खिन्न रहता था, घर में क़दम रखते ही किस प्रकार मेरा जी हरा हो जाता था। आज बरसों बीत गए, पर वे सब बातें अब भी मेरे हृदय में ज्यों की त्यों अधिकार जमाए हैं। मैं कितने उल्लास से पत्नी से मिलता और उससे पूछता—'सब कुशल तो है?' तब वह 'आपकी कृपा चाहिए' कहकर मुस्करा देती; पर उस समय उसके कमल-नेत्रों से कुछ गरम-गरम आँसू टपक पड़ते। उन आँसुओं में कितनी विरह-विह्वलता थी। उनमें कितनी सहिष्णुता, कितनी कायरता और कितनी मौन प्रार्थनाएँ थीं। हाय! उस समय मैं उन्हें समझकर भी न समझ सका।

इसी प्रकार चार बरस बीत गए। मैं बी० ए० की परीक्षा देकर घर लौट आया! इस बार बड़ी-बड़ी उमङ्गें और अभिलाषाएँ लेकर घर लौटा था। पर घर में पैर रखते ही उन पर पाला पड़ गया। इस बार मेरा कमरा

सूना था, उसमें प्रेम की वह साधना न थी। मुझे पता लगाने में देर न लगी। मालूम हुआ, वह बहुत दिन से बीमार थी, उसके सेवा-भार से तङ्ग आकर, घर वालों ने बड़ी दया करके उसे उसके पिता के यहाँ, एक हफ़्ते पहले भेज दिया है। दुखद समाचार मालूम होते ही मेरे होश उड़ गए, जी उलट-पलट होने लगा, हृदय पर एक प्रकार से निराशा ने अधिकार जमा लिया। मैं सोचने लगा—हे प्रभो! संसार का यह कैसा कठोर नियम है? वह हज़ारों की जायदाद लेकर इस घर में दासी के समान आई थी! दासी के समान रात-दिन घर वालों की सेवा करती थी और बदले में पाती थी घोर तिरस्कार! इतने पर भी वह किसी से कुछ कहती-सुनती न थी, सब चुपचाप सह लेती थी। तो भी घर वालों की यह निर्दयता! वह इतने दिन तक बीमार रही और मुझे ख़बर तक न दी! उसे चुपचाप गाँव को भेज दिया, जैसे वह इस घर की कोई थी ही नहीं; इस घर में जैसे उसका कुछ अधिकार था ही नहीं। ये कैसे घर वाले हैं, कैसे माता-पिता और भाई-भौजाई हैं? मुझे घर वालों पर बड़ी ही घृणा हुई।

सबेरा हुआ। मैंने बिना किसी से कुछ कहे ससुराल की राह ली। मेरी पत्नी खाट पर पड़ी थी। मुझे देखते ही वह उठकर बैठ गई। उसकी उन आकर्ण विस्तृत आँखों से आँसुओं की बूँदें गिरने लगीं। नहीं जानता था, वे आँसू हर्ष

के थे या दुख के। उसका गुलाब-पुष्प के समान प्रफु-ल्लित मुखड़ा कुम्हला गया था, शरीर सूखकर काँटा हो गया था, रङ्ग पीला पड़ गया था। जब मैंने उससे पूछा—"कैसी तबीयत है?" तब उसने क्षीण-स्वर में उत्तर दिया—"ठीक ही है, बड़ी कृपा की जो ख़बर ली।" आह! उसके इन शब्दों में कितनी मनोव्यथा थी! मैं अपनी भूल का यह भीषण परिणाम देख—अपनी भविष्य-सुख-कल्पना की वह मलिन मूर्त्ति देख, व्याकुल हो उठा!

मेरी पत्नी अपने पिता के यहाँ पहुँच ज़रूर गई थी, पर वहाँ भी उसकी देख-भाल का कोई विशेष प्रबन्ध न था। उसकी माँ पहले ही स्वर्गवासिनी हो गई थीं। पिता जी वृद्ध हो चुके थे। वे बहुत चाहते थे कि बेटी की दवा-दारू का कुछ प्रबन्ध हो जाता, पर उस घर में उनकी सुनने वाला कोई न था। मेरे साले खेती-किसानी के धन्धे में लगे रहते थे, और देहात में वैद्य-हकीमों का वैसे ही टोटा रहता है। तब उसकी दवा-दारू का बन्दोबस्त कैसे होता? रही सेवा-टहल की बात, सो उसकी भौजाइयों को घर-गृहस्थी के धन्धों और अपने बच्चों की देख-भाल से ही छुट्टी न मिलती थी। हाँ, मेरी पत्नी की एक बड़ी बहिन, अर्थात् मेरी बड़ी साली अवश्य उसकी सेवा-टहल तन-मन से करती थी। बेचारी उसे छाती से लगाकर रखती थी। पर इससे बीमारी दूर कैसे हो जाती? उसके लिए

तो किसी कुशल वैद्य की ही आवश्यकता थी। यह हालत देखकर मैं पत्नी को नगर में ले आया। श्वसुर जी की आज्ञा से उसकी सेवा-टहल के लिए मेरी साली भी साथ ही आई।

क्रूर विधाता मेरी ओर पहले से ही क्रूर-दृष्टि से देख रहा था। मैं गया था अपने भले के लिए और अपने ही हाथों अपना अनिष्ट कर बैठा! गरमी के दिन थे, रास्ते का वास्ता था, पत्नी को लू लग गई। घर आते-आते उसकी तबीयत और भी बिगड़ गई। फिर भी भौजाइयाँ आपस में कहती थीं—'देखो तो, कैसी भली-चङ्गी है, बहाना किए बैठी है और यह उसके लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किए डालता है।' यह उन लोगों की सहानुभूति थी। पर मैं उनकी इन बातों का कुछ भी ख़्याल न कर, तत्परता से उसकी दवा-दारू कराने लगा! पर विधाता की इच्छा के आगे किसका ज़ोर है? आठवें दिन मेरा हरा भरा बाग़ उजड़ गया! मेरे उजड़े घर में अँधेरा छा गया! बोलती हुई चिड़िया पिंजड़े को सूना करके उड़ गई। मैं हाथ मल-मलकर रोने-पछताने लगा। फिर क्या था? घर में तूफ़ान-सा आ गया। स्त्रियाँ फुक्का फाड़-फाड़ रोने लगीं। माँ और भौजाइयाँ मुझे भाँति-भाँति से समझाने-बुझाने लगीं।

माँ कहती थी—बेटा! उस अभागिनी के लिए कहाँ

तक रोओगे? वह तो मर ही गई, क्या तुम भी उसके पीछे जान दे दोगे? अभी तुम्हारी उमर ही क्या है? मैं तो तुम्हारे चार-चार विवाह कर दूँगी। वह थी ही किस गिनती में, उससे भी सुन्दर दुलहिन ला दूँगी!

भौजाइयाँ कहती थीं—लल्ला! तुम भी अच्छे पागल हुए हो। तुम्हारे घर में किस बात की कमी है? सभी तो बने हैं, तुम्हें दुख किस बात का? नाहक़ ही उस अभागिनी के पीछे दीवाने हो रहे हो! स्त्री तो पैर की जूती है, एक टूटी, दूसरी पहन ली। तुम ख़ुशी रहो, एक नहीं पचास स्त्रियाँ तुम्हारे सामने हाथ बाँधे खड़ी रहेंगी। उनकी ये बातें मुझे विष-समान जान पड़ती थीं! उनसे बात करने को भी मेरा जी न चाहता था।

उस समय उस घर में मेरे दुख का अनुभव करने वाला मेरी साली के सिवा दूसरा कोई न था। मेरी पत्नी उसकी सगी बहिन थी, वह उस पर बड़ा ही प्यार करती थी। उसके देहान्त से वह भी बड़ी दुखी थी, फिर भी वह बड़ी धीरजवान् थी। अपने दुख को दबाकर वह मुझे भाँति-भाँति से समझाती थी, तन-मन से मेरी सेवा करती थी। उसकी मधुर बातों से, उसकी सेवा-टहल से मुझे बड़ी ही शान्ति मिलती थी। असल बात यह थी कि वह बेचारी भी छुटपन से ही दुखिया थी। मुझे दुखी देख, वह कहने लगती थी :—

"तुम तो पुरुष हो, मेरी ओर देखो, मैं स्त्री हूँ। जब मैंने कुछ होश सँभाला, तब माता जी का देव-लोक-वास हो गया। माता की ममता कैसी होती है, उसका प्यार कैसा होता है, इसका मुझे कुछ अनुभव भी न हुआ। इसी के बाद जब मैं बिलकुल अज्ञान थी, मेरा विवाह हो गया। पर निर्दयी विधाता ने उसी बचपन में ज़बर्दस्ती मेरा सौभाग्य-सिन्दूर पोंछ डाला। मैंने पति का मुंह भी नहीं देखा, तब उनका प्यार क्या जानूँ! ससुराल वाले मेरा मुँह देखना भी पाप समझते हैं। किसी तरह मायके में दिन बिता रही हूँ। भाई अलग डाँटते हैं, भौजाइयाँ अलग झिड़कती हैं, पर उस अपमान को कड़वी दवा के समान पी जाती हूँ। जब तक पिता जी हैं, किसी प्रकार दो रोटियाँ मिल जाती हैं। उनके न रहने पर न जाने मेरी क्या दशा होगी? सो सुख-दुख का फेरा तो सभी के पीछे लगा ही रहता है। तुम्हारे दिन तो एक दिन फिर ही जायँगे, पर मेरा भाग्य तो एक-बारगी फूट गया है। संसार में अकेले तुम्हीं दुखी नहीं हो, तुमसे भी बढ़कर दुखी प्राणी इसी संसार में रहते हैं। अपने मन को शान्त करो।" उसकी करुण कथा मुझे बहुत भाती थी, मैं उसे बड़े ध्यान से सुनता था और उससे मेरे दुखी मन को बहुत शान्ति मिलती थी।

संसार में कोई कितना ही दुखी क्यों न रहे, पर उसके काम-काज क्षण-मात्र के लिए भी बन्द नहीं होते। मैं तो

घर में पत्नी-वियोग से रोता था और उधर पिता जी के पास मेरे विवाह के लिए नित्य सन्देश आते रहते थे। एक दिन पिता जी ने मुझे बुला भेजा। उनके पास उस समय मेरी माता जी और दोनों भाई भी बैठे थे। मेरे बैठते ही पिता जी मुझसे बोले—बेटा, जो कुछ होना था, वह तो हो ही चुका। अब रञ्ज-फ़िक्र करने से क्या फ़ायदा? तुम ख़ुशी से रहोगे तो कितनी ही स्त्रियाँ आ जायँगी। आज ही वारपुर के ज़मींदार का सन्देशा आया है। उनकी एक लड़की नौ बरस की है। सुनते हैं, बड़ी सुन्दर है। वे उसका सम्बन्ध तुम्हारे साथ करना चाहते हैं। घर के धनी-मानी आदमी हैं, धन-दहेज भी ख़ूब देने को कहते हैं। मेरी समझ में सम्बन्ध बहुत ही अच्छा है, मैंने हामी भी भर ली है। लड़की कुछ छोटी अवश्य है, पर इससे क्या, एक दिन सयानी हो ही जायगी। अब तुम्हारी राय क्या है?

पिता की इन बातों से मुझे बड़ी विरक्ति हुई। मेरे दिल पर क्या बीत रही है, इसका उन्हें कुछ ख़याल ही नहीं है—इन्हें तो रुपए की पड़ी है। धन के लालच से मेरे-जैसे नौजवान के गले एक अबोध बच्ची बाँधना चाहते हैं, उससे मुझे क्या सुख मिलेगा, इसकी इन्हें कुछ चिन्ता ही नहीं। मैंने पिता जी को जवाब दिया—आप ज़मींदार साहब से कह दीजिएगा कि वे अपनी पुत्री का सम्बन्ध

दूसरी जगह करें, मेरा भरोसा न करें। मुझे धन-दहेज की कुछ चाहना नहीं है। मैं अपना विवाह न करूँगा।

मेरी बातों से पिता जी बहुत बिगड़े। माता जी की आँखें भर आईं। भाई मुझे भाँति-भाँति के उपदेश देने लगे, पर मैं अपने निश्चय पर ही दृढ़ रहा। उस दिन से घर वाले मुझे और भी वक्र-दृष्टि से देखने लगे। घर वालों की इस ज़्यादती और जाति-बिरादरी वालों के आग्रह से मैं तङ्ग आ गया। उफ़! समाज कैसा निष्ठुर है, वह दुख में भी दुखी लोगों को रोने देना नहीं चाहता। धीरे-धीरे मुझे समाज से बड़ी घृणा होने लगी।

इतना सुनने से आपको यह भली-भाँति मालूम हो गया होगा कि मेरी परिस्थिति कैसी रही होगी और मैं समाज से किस प्रकार दूर होता जाता था। उस घर में—उस समाज में किसी ने इस बात की कोशिश न की, जिससे मेरे दिल को सब्र होता, और समाज के प्रति मेरी बढ़ती हुई घृणा की गति कुछ कुण्ठित होती। सच पूछिए तो यही घृणा मुझे ले डूबी। अस्तु—

यह तो आप सुन ही चुके हैं कि उस घर में सभी स्वार्थी दिखते थे। उनकी एक-एक बात में मुझे स्वार्थ की बू आती थी। किसी से बात करने को जी न चाहता था। एक मेरी साली ही ऐसी थी, जिसकी बातों से मुझे कुछ शान्ति मिलती थी। वह कुछ तो ससुराल वालों की

लापरवाही से और कुछ मेरे आग्रह से वहीं रह गई थी। बेचारी बाल-विधवा थी, घर वालों की डाँट-डपट से गृहस्थी के कामों में बड़ी ही चतुर हो गई थी। वह मुझसे मीठी-मीठी बातें करती थी, भाँति-भाँति से समझाती थी। मैं ग्रेजुएट होकर भी उस अपढ़ देहाती बालिका की बातों पर लट्टू हो जाता था, हृदय का भार-सा उतर जाता था। वह अपने भरसक मुझे सुख पहुँचाने की चेष्टा करती थी। पत्नी का अभाव उसने बहुत अंशों में पूर्ण कर दिया था।

मेरी साली मेरी पत्नी से दो बरस बड़ी और मुझसे दो बरस छोटी थी। उन दिनों उसकी उमर कोई बीस बरस की थी। लावण्य का प्रकाश उसके एक-एक अङ्ग से जैसे फूटा पड़ता था। वह मेरी पत्नी के समान ही सुन्दरी थी। वैसा ही गोरा रङ्ग, वैसा ही गुलाब-पुष्प के समान मधुर मुखड़ा, वैसी ही नुकीली नाक, वैसे ही प्रकाशमान कमल-नेत्र, वैसे ही सुडौल हाथ-पैर, मानों दोनों एक साँचे की ढली हुई थीं। अन्तर था तो यही कि मेरी पत्नी कुछ हँसमुख थी और उसके मुखड़े पर एक अव्यक्त वेदना की विषादमयी छाया अधिकार जमाए रहती थी। पत्नी के समान ही सतर्कता से वह मेरी सेवा करती थी। मुझे सन्देह हो जाता था कि मेरी पत्नी घर में मौजूद है, पर वह म्लान मुखड़ा देखते ही सारा सन्देह दूर

हो जाता था। उसके उस सुन्दर मुखड़े पर दुख की छाया कैसा अधिकार जमा बैठी थी! उन सुन्दर नेत्रों में कितनी वेदना, कितनी करुणा समाई रहती थी! जब वह मेरी ओर देखती, तब मुझे ऐसा जान पड़ता मानों वे नेत्र शत-शत शब्दों में मुझसे अपनी दुख-कथा कहना चाहते हों! उफ़! वे नज़रें मुझे कितना मर्माहत कर डालती थीं!

मेरे हृदय-देश में भावों का तूफ़ान उठ खड़ा होता था! कितने विचार उठते और कितने लीन होते थे! कभी सोचता—अहा! यही मेरी पत्नी होती तो मैं कैसा सुखी होता! कभी सोचता, अहा! यह कितनी दुखिया है, इसके भाग्य में सुख की छाया भी नहीं बदी! हे भगवान्, क्या कभी इसके इस दारुण दुख का विनाश होगा? यह मुझे शान्त करने के लिए कितनी चेष्टाएँ करती है, पर मैं क्या करता हूँ? भावों का तूफ़ान मेरी जिह्वा की गति कुण्ठित कर देता, तब मैं वैसी ही विषादमयी आँखों से उसकी ओर देखता और दृष्टि-मिलन होते ही उसकी आँखें झप जातीं। मैं भी उसके मनबहलाव के लिए भाँति-भाँति की बातें करता और वह उन्हें चुपचाप बड़े ध्यान से सुनती। जब मेरा कथन समाप्त हो जाता, तब मैं देखता कि मेरे उद्विग्न चित्त का बोझ-सा उतर गया है! इससे मुझे बड़ा ही सन्तोष होता था।

धीरे-धीरे हम दोनों में आत्मीयता बढ़ती गई। प्रेम-

भाव दिनोंदिन ज़ोर पकड़ता गया। अब मुझे कुछ न सुहाता था, न किसी काम में मन ही लगता था। जी यही चाहता था कि उसी के पास बैठा रहूँ; उसकी बातें सुनूँ और उसे अपनी बातें सुनाऊँ। जब कभी थोड़ी देर के लिए बाहर जाता, तो सारा संसार उदासीन जान पड़ता। मित्रों की बातों में मज़ा न आता। प्रकृति मानों मेरी ठिल्ली उड़ाती, और सन्ध्या की ठण्ढी-ठण्ढी हवा साँय-साँय ध्वनि से मेरा दर्द हरा कर देतीं। मैं घर लौटने के लिए घबरा उठता और जब घर आकर उस विषादमय मुखड़े के दर्शन करता, तब कहीं मेरा जी शान्त होता। हम दोनों खुली छत पर चाँदनी में बैठते और दिल खोलकर बातें करते। बातें करते-करते मैं अपनी सुध-बुध खो बैठता, सारा दुख-दर्द भूल जाता। मुझे ऐसा कुछ आनन्द मिलता मानों मैं अपनी प्यारी पत्नी से ही बातें कर रहा हूँ। परन्तु वह सुख-स्वप्न थोड़ी देर में हवा हो जाता, जब बीच में मुझे अपनी वास्तविक दशा का ध्यान आ जाता। इस समय तक हम लोग किसी प्रकार के पाप-पुण्य में न थे, न हमारे मन में उस प्रकार की भावनाएँ ही उत्पन्न हुई थीं।

उस सुख-समय में भी मैं कभी-कभी उद्विग्न हो उठता था। जब मैं यह सोचता कि आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों मेरे दुर्दिनों का यह स्नेही मित्र मुझसे

सदा के लिए बिछुड़ जायगा, तब मैं मर्मान्तक वेदना से व्याकुल हो उठता था। अब ससुराल से मेरा नाता ही क्या रहा? जब यह वहाँ चली जायगी तब मैं कौन-सा मुँह लेकर ससुराल में जाऊँगा और अब यही वहाँ जाकर किसलिए यहाँ आएगी? बेचारी विधवा है—इसे तो सुख की कल्पना करने का भी अधिकार नहीं! युवती है; अतः इसकी ससुराल वाले इसका मुँह देखना भी पाप समझते हैं! भाई-भौजाईयों के सुख का यह काँटा है! पिता के देहान्त के बाद न जाने बेचारी की क्या दशा होगी? संसार की गति इसे ज्ञात नहीं, लुच्चे-लफङ्गे ऐसी भोली-भाली रमणियों की तलाश में सदा ही ख़ाक छानते रहते हैं। भगवान् जानें, कौन से प्रलोभन में फँसकर, कैसे दुख-सागर में जा गिरेगी? आह! हिन्दू-समाज की दशा कैसी अन्धकारमय है! ऐसी बाल-विधवाओं के सुख-सुभीते का प्रबन्ध करना भी वह पाप समझता है। मैं इसका कौन हूँ? मुझे भी इसकी सहायता करने का क्या अधिकार है? मैं आज इसकी सहायता करूँगा, कल ही लोग इसे और मुझे कलङ्क लगाकर बदनाम कर डालेंगे।

इधर तो मैं इस प्रकार सुख-दुख और निराशा की लहरों में पड़ा थपेड़े खा रहा था और उधर समाज मेरे गले पर भोंथरी छुरी चलाने की तैयारी कर रहा था, मानों विधाता का दिया हुआ दुख उसकी दृष्टि में मेरे लिए यथेष्ट

दण्ड न था! सच है, जब दुख की लहर आती है, तब चारों ओर से आती है। एक दिन सन्ध्या-समय मैं अपनी साली से बातें कर रहा था, तब पिता जी ने वज्र-गम्भीर स्वर से मुझे पुकारा। मैं फ़ौरन उनके पास पहुँचा। देखता क्या हूँ कि पिता जी साक्षात् क्रोध की मूर्त्ति धारण किए बैठे हैं। उनकी आँखों में बिजली चमक रही है। उन्हीं के सामने माता जी बैठी हैं और ठण्ढी साँसें ले रही हैं। यह दृश्य देखते ही मैं सकपका गया—कुछ समझ न सका कि बात क्या है। मैंने घबराकर उनसे पूछा—कहिए, क्या आज्ञा है?

वे गरजकर बोले—रे नीच! कुल-कलङ्क! तूने तो सात पीढ़ी की इज़्ज़त-अस्मत धूल में मिला दी! तूने मेरे मुँह में कालिख लगा दी। समाज में मेरा सिर नीचा कर दिया। ऐसा कुपूत पैदा होते ही क्यों न मर गया?

अकारण ही यह धिक्कार—अकारण ही यह तिरस्कार? क्रोध तो मुझे बहुत आया, पर उसे मन में ही दबाकर मैंने नम्रता-पूर्वक उनसे पूछा—आख़िर मैंने क्या अपराध किया है, जो आप मुझे इस प्रकार गालियाँ दे रहे हैं?

उत्तर में मारे क्रोध के उन्होंने मेरे सामने काग़ज़ का एक टुकड़ा फेंककर कहा—ले, अपनी करतूत देख ले!

मैंने काग़ज़ उठा लिया। उसे पढ़ते ही मेरी सुध-बुध जाती रही, काटो तो बदन में ख़ून नहीं, मानो पृथ्वी मेरे

पैरों तले से खिसकी जा रही हो ! हे भगवन् ! यह कैसी लीला है ? जिसका कभी विचार भी नहीं किया, उसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ! क्या लोगों की दृष्टि इतनी तीव्र हो गई है, जो वे दूर से दीवारों के भीतर की घटनाएँ भी देख लेते हैं। वह काग़ज़ मेरी ससुराल से आया हुआ पत्र था। पत्र में ससुराल वालों ने यह शिकायत की थी कि मैंने उनके साथ बड़ा ही विश्वासघात किया है। उनकी विधवा-कन्या को धर्म-भ्रष्ट कर, उनकी सारी मान-मर्यादा नष्ट कर दी है और उन लोगों को संसार में कहीं मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रक्खा है। उन लोगों ने मेरे पिता से इस बात की भी प्रार्थना की थी कि वे उस कलङ्किनी को भली-भाँति समझा देवें कि वह अब उन्हें और बदनाम करने के लिए अपना काला मुँह न दिखलावे, नहीं तो उसकी कुशल नहीं है। संसार ख़ाली पड़ा है, जहाँ उसका जी चाहे, चली जाय।

ये सब वाहियात बातें पढ़कर मेरा सिर घूम गया। माथे पर पसीना झलक आया। आज मुझे मालूम पड़ा कि हिन्दू-विधवा का जीवन कितना कष्टमय है। भले रास्ते पर चलने पर भी उस पर सन्देह की आँखें लगी रहती हैं। और हिन्दू-समाज कितना निर्दयी है, कितना अन्यायी है ! केवल उड़ती हुई ख़बरें सुनकर ही, अपनी झूठी मान-मर्यादा की ओट में वह उनके जीवन का फ़ैसला कितनी

सरगर्मी से कर डालता है। वह थोड़ी देर के लिए भी यह सोचने का कष्ट नहीं उठाता कि उसकी इस निर्दयता से कितने जीवन बर्बाद हो जायँगे, ख़ुद हमारी कितनी हानि होगी और उस हानि का प्रभाव हम पर तथा देश पर कितना पड़ेगा?

मैंने बड़ी कातरता से पिता जी से कहा—मैं आपको धर्म की साक्षी देकर विश्वास दिलाता हूँ कि हम लोगों का चरित्र बिलकुल निर्मल है। वह बेचारी तो इतनी भोली-भाली है कि उसे पाप की छाया भी स्पर्श नहीं कर सकी है। हाँ, उसका अपराध है तो यही कि उसने इन दुर्दिनों में मुझसे सहानुभूति दिखलाई है और पवित्रता-पूर्वक मेरी सेवा की है। क्या इस सत्कार्य का उसे यह भीषण दण्ड मिलना चाहिए? पिता जी! क्या इस आपत्ति से उद्धार पाने का कोई उपाय नहीं है?

पिता जी ने रुखाई से उत्तर दिया—बबूल का वृक्ष बोकर आम खाने की आशा करते हो? अभी उस चाण्डा-लिन को घर से बाहर कर दो! बस, इसी में कुशल है।

मैंने उसी कातरता से उनसे पुनः कहा—मैं आपकी आज्ञा से बाहर नहीं हूँ। पर जब आप ही मुझ पर विश्वास नहीं करते, तब मेरा विश्वास कौन करेगा? मैं उसे यहाँ से निकाल दूँगा, पर मायके वाले उसे अपने घर में पैर न रखने देंगे, तब उसका क्या होगा?

उन्होंने मुझे झिड़ककर जवाब दिया—मैं लाख तेरा विश्वास करता हूँ, पर मुझमें यह शक्ति तो है नहीं कि मैं समाज का मुँह बन्द कर दूँ ! फिर तुझे अपनी इज़्ज़त-आबरू की चिन्ता है या नहीं ? तुझे उससे क्या लेना-देना ? संसार में जगह की कमी नहीं है, जहाँ उसका सींग समायगा, चली जायगी। कुछ उसके पीछे हम अपनी आबरू तो दो कौड़ी की कर न लेंगे !

मैंने पिता जी से कितनी ही विनती की, उनके सामने कितना ही गिड़गिड़ाया कि उस निरपराधिनी के प्रति इतने कठोर न हूजिए, कुछ तो न्याय कीजिए ! पर उनका पत्थर का हृदय ज़रा भी न पसीजा ! मैं ज्यों-ज्यों उनसे प्रार्थना करता था, त्यों-त्यों उनकी कठोरता बढ़ती जाती थी। हाय ! पिता जी उस दिन सत्य के प्रति ज़रा भी ममता दिखलाते, तो मुझे आज यह दिन नसीब न होता !

जब पिता जी ज़रा भी न पिघले, तब मैंने उनसे प्रार्थना की—'अच्छा यही सही, पर केवल दो-एक दिन के लिए ठहर जाइए, अभी कोई उससे कुछ न कहे। इस बीच में मैं अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लूँगा। और यदि मेरी यह प्रार्थना भी न सुनी जायगी, तो परिणाम बुरा होगा !' ये बातें मैंने बड़ी ही दृढ़ता से कही थीं। पिता जी ने मेरी विनती मान ली। अब मैं बड़ी उलझन में फँस गया। उस बेगुनाह के विषय में कितनी ही बातें सोचता था, पर

दिमाग़ काम न करता था। सहसा मेरे मन में एक विचार आया। मैं आस्तिक ब्राह्मण का बेटा था। स्वभावतः ही विधवा-विवाह को बुरा समझता था। जब कॉलेज में मित्र लोग इस विषय पर बहस करते थे, तब मैं उसका कितना विरोध करता था, विधवा-विवाह की बुराइयाँ दिखलाने के लिए कितनी ही दलीलें पेश करता था। आज फिर वही विषय मेरे सामने पेश था।

मेरे सामने एक अनाथ बाल-विधवा थी, जो पाप क्या है, यह भी न जानती थी ; जिसने संसार के भोग-विलास और प्रलोभन की छाया भी न देखी थी। मेरी ही दृढ़ता पर उसका जीवन निर्भर था। सबसे बड़ा सवाल जो मेरे दिमाग़ में दौड़ रहा था, वह यह था कि इसने दुर्दिन में सच्चे मित्र के समान मेरा साथ दिया है और उसी अपराध में इसकी गर्दन उतारी जा रही है, अब मेरा कर्त्तव्य क्या है? क्या इसे निराधार छोड़ दूँ? पापी संसार इसे अत्याचार की चक्की में पीस डालेगा! इसे निराधार छोड़ देना, इसके अमूल्य जीवन को बर्बाद कर डालना तो बड़ा पाप होगा। हाय! समाज में कैसी निर्दयता छा रही है? ऐसे ही व्यर्थ सन्देहों पर आज तक न जाने कितनी ग़रीब बालिकाओं का बलिदान हो चुका होगा। हाय! बाल-वय में इसका विवाह न हुआ होता, तो आज बेचारी को मुसीबत का यह दिन क्यों देखना पड़ता? फिर जिसने

पति का मुँह भी नहीं देखा, जिसको संसार की भली-बुरी बातों का ठीक-ठीक ज्ञान तक नहीं, उसका विवाह ही कैसा? ऐसी अबोध अबलाओं का पुनर्विवाह कर देना अच्छा या उनके जीवन को जन्मभर दुख की आग में जलाना—उन्हें पग-पग पर पतित करना—अच्छा? आज विधवा-विवाह की उपयोगिता मेरी समझ में भली-भाँति आ गई, पर मैं अपना कर्त्तव्य स्थिर न कर सका।

तब मैं अपने एक मुसलमान-मित्र के पास पहुँचा। वे थे तो कट्टर मुसलमान, पर बड़े ही उदार विचारों के थे। उन्हें हिन्दी-साहित्य से बड़ा ही प्रेम था। हिन्दू-धर्म और समाज के विषय में भी उनकी जानकारी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। बुद्धि के बड़े ही पैने और अग्रसोची थे। उनका व्यवहार मेरे प्रति बड़ा ही प्रेममय और निर्मल था। वे मेरे सहपाठी थे। इन सब कारणों से उनसे मेरी घनिष्ठता बहुत ही बढ़ गई थी, और अनेक हिन्दू-सहपाठियों के होते हुए भी मैं उन्हीं पर अधिक विश्वास करता था। मैंने आज की सब घटना उन्हें सुना दी। कुछ देर सोचकर वे बोले—हूँ! समस्या तो बड़ी पेचीदी है, आपके समाज में इसका सुगमता से सुलझ जाना तो आसान नहीं है। हाँ, एक उपाय है, पर बड़ा भीषण उपाय है। शायद तुम उसे कर भी न सकोगे।

मैंने उत्सुकता-पूर्वक कहा—ख़ैर, कहिए भी तो!

मित्र ने जवाब दिया—उपाय जितना कठिन जान पड़ता है, वह असल में उतना कठिन नहीं है, केवल थोड़े साहस की आवश्यकता है। बस, तुम उसके साथ विवाह कर लो।

मैंने घबराकर कहा—यह कैसे हो सकता है? क्या आपको मेरे समाज की दशा मालूम नहीं है। ऐसा करने से तो मैं बड़ी मुसीबत में पड़ जाऊँगा।

उन्होंने अल्हड़पन से जवाब दिया—मर्द-बच्चे मुसीबतों की परवाह नहीं करते। तुम चाहो तो सब कुछ हो सकता है। वह बेगुनाह व्यर्थ ही तुम्हारे पीछे बदनाम हुई, जब तुम्हीं उसका साथ न दोगे, तो कौन देगा? तुम भी उसे त्याग दोगे, पर गुण्डे तो उसे त्याग न देंगे। यह गुनाह किसकी गर्दन पर होगा? तुम्हारी और केवल तुम्हारी! खुदा के सामने न्याय के दिन तुम इस गुनाह का क्या जवाब दोगे? उसके जीवन को बर्बाद करने की अपेक्षा तुम्हीं थोड़ी-सी मुसीबत या झूठी बदनामी बर्दाश्त कर लो। इसे मैं बहुत बेहतर समझता हूँ। मुझे जो कहना था, कह चुका। अब तुम्हारा जैसा जी चाहे, करो।

मित्र की इन बातों ने मेरी ज़बान बन्द कर दी।

घर लौटकर सब हाल मैंने अपनी साली को सुनाया। सुनते ही बेचारी फूट-फूटकर रोने लगी। तब मैंने उससे पूछा—अब तुम क्या करोगी?

उसने जवाब दिया—तुमसे मेरी कोई बात छिपी नहीं है। जब मैं छोटी थी, मेरी कोई बदनामी नहीं हुई थी, तभी ससुराल वाले मेरा मुँह देखना पाप समझते थे। एक बार मैं वहाँ गई थी। पर जाते ही वहाँ एक बच्चा बीमार हो गया। मेरी सास मुझे कोसती हुई बोली—'इस डायन ने मेरे लाल को खा लिया, अब इसके आते ही दूसरी आफ़त आई। इसे अभी निकाल बाहर करो।' उसी दिन मैं मायके भेज दी गई। उस दिन से मैंने ससुराल की सूरत नहीं देखी। किसी प्रकार मायके में पड़ी-पड़ी दिन बिता रही थी। सो अब वहाँ से भी गई। पिता जी की तो मैं कुछ नहीं कह सकती, पर भाइयों के स्वभाव को मैं ख़ूब जानती हूँ। उनका हृदय बड़ा ही कठोर है, मुझे देखते ही न जाने क्या अनर्थ कर डालेंगे। अब तो मैं तुम्हारी शरण में हूँ, तुम्हीं मेरी रक्षा करो।

इतना कहते-कहते वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी। उसका वह सिसक-सिसक रोना, उसकी वे कातर-भावपूर्ण आँखें देख, मेरा हृदय भी भर आया। मैंने उसका हाथ पकड़कर उसे उठाय और कहा—इतनी अधीर मत होओ। मैं प्राण देकर भी तुम्हारी रक्षा करूँगा। बोलो, तुम मेरी बात मानोगी?

उसने जवाब दिया—मैं इन बातों को क्या जानूँ? जैसा तुम समझो, करो। तुम जो कुछ कहोगे, मैं वह करूँगी।

मैंने उसे अपना सब मतलब समझा दिया। उसने बिना 'किन्तु-परन्तु' के मेरी बात मान ली। मेरे मन में एक प्रकार की शान्ति छा गई। सिद्धान्त पालन करने की दृढ़ता दिखलाने में भी कितना सन्तोष होता है। मेरी आत्मा जैसे गौरवान्वित हो उठी। दूसरे ही क्षण मैंने प्यार से उसका हाथ खींचकर उसे अपने हृदय से लगा लिया। थोड़ी देर के लिए वह भीषण तूफ़ान शान्त-सा हो गया।

सबेरा हुआ, अभी मैं नित्य-क्रिया से फ़ारिग़ भी न हो पाया था कि मुझे घर वालों ने घेर लिया। पिता जी ने मुझसे पूछा—तूने क्या निश्चय किया? उस अभागिनी को घर से बाहर निकालता है या नहीं?

मैंने उन्हें उत्तर दिया—नहीं! वह मेरी पत्नी है।

यह सुनते ही पिता जी के चेहरे पर मुर्दनी छा गई। उनका सारा क्रोध जाता रहा। बड़ी ही नम्रता से बोले—बेटा, मेरे इन सफ़ेद बालों में कालिख न लगाओ। मैं मर जाऊँ, तब चाहे जो करते रहना।

मेरे भाई मुझ पर बहुत ही बिगड़े, वे मुझे बुरा-भला कहने लगे। उधर स्त्रियों ने तो सिर पर घर ही उठा लिया। भौजाइयों ने उसे मारकर घर से बाहर कर दिया। भारी तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। पुरा-पड़ोस और जाति-बिरादरी वालों से घर भर गया। सब लोगों ने मुझे भाँति-भाँति से समझाना शुरू किया। पर मैं अपने निश्चय पर स्थिर

रहा। बूढ़े पुराने लोग मनमानी बातें करने लगे। इन तिरस्कारों ने मुझे और भी दृढ़ कर दिया। अन्त में बिरादरी वाले पिता जी से 'तिवारी जी, आपका सपूत भ्रष्ट हो चुका है, अब वह हमारे काम का नहीं। यदि आप उसे घर में रक्खेंगे, तो आप भी हमारे काम के न रहेंगे' कहकर चलते बने और यहाँ मुझ पर आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा।

अब मैं बड़ी आपत्ति में पड़ा। पास में एक टका भी न था। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कुछ न सूझ पड़ता था। चारों ओर निराशा मुँह बाए खड़ी दिखती थी। तो भी मैंने उद्योग का पीछा न छोड़ा। बिरादरी वालों के घर-घर गया, मोहल्ले वालों से भी सहायता की प्रार्थना की, पर कोई न पसीजा, उल्टे सभी मुझे ही नाम धरते थे। कोई जाति-बहिष्कार के भय से और कोई पिता जी की अप्रसन्नता के डर से मुझे सहायता न देना चाहते थे। तब मैंने अपने हिन्दू-मित्रों के द्वार खटखटाए। उन सभी ने एक न एक बहाना बना दिया। एक महाशय ने तो ताना देकर यह भी कह दिया कि ख़ाँ साहब तो आपके बड़े गहरे मित्र हैं, क्या ऐसे आड़े समय में उन्होंने भी आपकी सहायता नहीं की? अन्त में चारों ओर से निराश और खिन्नता लेकर मैं अपने उन्हीं प्यारे मित्र के पास पहुँचा। सब हाल सुनकर उन्होंने प्रसन्नता से कहा—यह आपका घर है। जब तक जी चाहे, शौक़ से रहिए। पर ख़ूब आगा-

पीछा सोच लीजिए। कहीं ऐसा न हो कि यहाँ रहने से आप पर और भी मुसीबत आ जाय।

मैंने कहा—जब मैंने मुसीबत के मार्ग में पैर बढ़ा दिए हैं, तब उसका क्या डर? जैसी बीतेगी, सब भुगतूँगा।

इसके बाद मैं अपनी पत्नी को लेकर मित्र के यहाँ जा टिका। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वे बड़े ही उदार-प्रकृति के महाशय थे। उन्होंने हमारे आराम के लिए सब सुभीता कर दिया। हमारा समय शान्ति से बीतने लगा। इन दुर्दिनों में भी मुझे एक प्रकार का बड़ा सुख था। भाग्य से मुझे ठीक पहली पत्नी के समान ही यह पत्नी मिल गई थी; केवल सौन्दर्य में ही नहीं, गुणों में भी वैसी ही। अब मुझे चिन्ता थी तो इसी बात की कि मैं किसी उद्योग-धन्धे में लग जाता और इस नूतन पत्नी के सुख के सुभीते जुटा देता।

अभी तक मुझे यह आशा थी कि घर वालों ने मुझे क्रोध में आकर अवश्य निकाल दिया है, पर क्रोध शान्त होते ही वे मेरी ख़बर लेंगे। इसी बीच में नगर में यह ख़बर उड़ गई कि मैं मुसलमान हो गया हूँ। इधर सात दिन हो गए, पर घर वालों ने मेरी कुछ भी ख़बर न ली। तब तो मेरी रही-सही आशा भी जाती रही। फिर भी हृदय कड़ा करके मैंने पिता जी को पत्र लिखा कि मेरे मुसलमान होने की ख़बर बिलकुल झूठ है। जब किसी ने

मुझे सहायता नहीं दी, तब मैं अपने मुसलमान-मित्र ही के यहाँ आ टिका हूँ। उनकी सहायता मैंने केवल आपद्धर्म समझकर ग्रहण की है। मैंने अपना धर्म नष्ट नहीं किया है। अब भी मेरा उद्धार कीजिए, मुझे इस प्रकार न बहा दीजिए।

परन्तु उन्होंने पत्र का जो उत्तर दिया, उससे मेरी आशा का सदा के लिए अन्त हो गया। उन्होंने लिखा था—तेरे जैसे कुपूत का तो मर जाना ही बेहतर है। चाहे ब्राह्मण बना रह, चाहे मुसलमान हो जा, अब तू हमारे किसी काम का नहीं रह गया। ख़बरदार अपना वह काला मुँह हम लोगों को न दिखलाना। हम समझ लेंगे कि तू हमारे यहाँ उत्पन्न ही न हुआ था।

इस प्रकार घर ने झूठी मान-मर्यादा पर और जाति ने अपनी कुलीनता पर ज़बर्दस्ती मेरा बलिदान कर दिया। अब मैं क्या करता ? हाँ, आशा की थोड़ी झलक और बाक़ी रह गई थी। आर्य-समाज बहुधा ऐसी बातों में विशेष दिलचस्पी दिखलाता है। एक दिन मैं उसके मन्त्री महोदय से भी मिला। उन्हें अपनी सब व्यथा सुनाई। सुनकर उनकी बाछें खिल गईं। वे मुझसे बोले—आपका यह साहस प्रशंसनीय है, आदर्श है, अनुकरणीय है। मैं कल ही समाचार-पत्रों में आपकी प्रशंसनीय कीर्त्ति छपने को भेज दूँगा। आपका नाम चारों ओर फैल जायगा।

समाज-सुधारक आदर-पूर्वक आपका नाम लेंगे। आप शौक़ से समाज में आइए। मैं यह विवाह वैदिक-विधि से पूर्ण करने का उत्तम प्रबन्ध कर दूँगा।

मैंने उनसे नम्रता-पूर्वक कहा—यह तो सब हो जायगा। पर यह तो बतलाइए कि मेरी बिरादरी में मेरा चलन किस प्रकार होगा? किस समाज में रहकर मेरे सामाजिक जीवन का व्यय होगा।

यह सुनते ही मन्त्री जी के होश ढीले हो गए। बोले, भाई, इस विषय में मैं क्या कहूँ? सनातनधर्मी तो हमारी बात भी नहीं सुनना चाहते। सामाजिक जीवन बिताने के लिए तो हमें भी उन्हीं के पीछे-पीछे चलना पड़ता है।

यह सुनते ही मैंने अपनी राह ली।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बिना किसी समाज का पल्ला पकड़े उसका चलाव नहीं चल सकता। उसे किसी न किसी समाज की शरण लेनी ही पड़ेगी, चाहे वह समाज हिन्दुओं का हो, मुसलमाना का हो या ईसाइयों का हो। पर अब हिन्दू-समाज मुझे त्याग चुका था, मुझे भी उससे घृणा और भीषण घृणा हो गई थी। अतः अब मैं इस चिन्ता में पड़ा कि मैं किस समाज का आश्रय लूँ। परन्तु बिना अपना धर्म परिवर्त्तन किए मैं अन्य समाज का आश्रय कैसे ले सकता था?

आप जानते हैं कि उस आपत्ति-काल में किसी हिन्दू-

भाई ने मेरी रत्तीभर भी सहायता न की थी। सहायता देने वाला था एक सच्चा मुसलमान। ऐसी स्थिति में स्वभावतः मुस्लिम-समाज तथा धर्म पर मेरी श्रद्धा हो गई। मुसलमानों का वह सामाजिक सङ्गठन देखकर मैं दङ्ग हो गया। उनमें कैसा भ्रातृ-भाव है, कैसी अनूठी उदारता है। आपके समाज के महा नीच भङ्गी तक के लिए इस्लाम-धर्म का द्वार खुला हुआ है, इस्लाम-धर्म की दीक्षा लेते ही वह समाज का एक आवश्यक अङ्ग हो जाता है। उसके नैतिक और धार्मिक अधिकार कितने बढ़ जाते हैं ? मस्जिद में जाकर वह एक शाहंशाह की बराबरी से खड़ा होकर नमाज़ पढ़ सकता है। उसकी जड़-बुनियाद पूछने वाला कोई नहीं। वह बड़े से बड़े अमीर-उमरा के दस्तरख़ान पर बैठकर भोजन कर सकता है, कोई उसे टोकने वाला नहीं। इस्लाम की इस उदारता पर मैं मुग्ध हो गया और मैंने मन ही मन इस्लाम की शरण लेने का निश्चय कर लिया।

मेरे निश्चय की सूचना पाते ही मित्र बहुत घबराए। बोले—'बाबा ! बदनामी का यह ठीकरा मेरे सिर न फोड़ो, चार हिन्दू-मित्र सुनेंगे, तो मुझे क्या कहेंगे ?' पर मेरा दृढ़ निश्चय देख वे भी बाद में सहमत हो गए, और अन्त में एक दिन मैं हिन्दू-समाज का अभागा त्यक्त-पुत्र मुस्लिम-समाज का प्यारा लाल हो गया। उन्हीं दिनों मैंने युक्त-प्रान्त के शिक्षा-विभाग में कोई नौकरी पाने के लिए अर्ज़ी

दी थी। अर्ज़ी स्वीकृत हुई और मैं इस ओर चला आया। मेरी पत्नी अब भी जीवित है। उसके प्रेममय व्यवहार ने घर को स्वर्ग का टुकड़ा बना रक्खा है। घर बच्चों से भरा-पुरा है और जीवन एक सुखी जीवन हो रहा है।"

थोड़ी देर बाद हमीद ख़ाँ चले गए। उनकी कथा ने मुझे बेचैन कर दिया। हिन्दू-समाज के विषय में मैं कितनी ही बात सोचता रहा। सचमुच में हिन्दू-समाज में कैसा अन्धकार छाया हुआ है! उफ़! हिन्दू-समाज का यह भीषण अत्याचार—यह गहन अन्धकार कब दूर होगा?

दुख है कि आज मित्रवर हमीद इस संसार में नहीं हैं, इसीलिए साहस कर मैं उनकी आत्म-कथा लिख रहा हूँ, शायद हिन्दू-समाज इससे कुछ शिक्षा ले!!
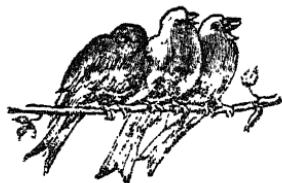
# मैं मुसलमान कैसे हुई ?
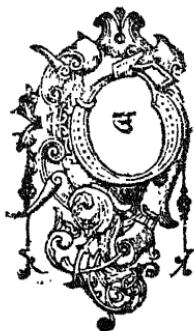
स दिन मैं कटनी से आगरा जाने के लिए रेल में सवार हुआ। बरसात के दिन थे। रात्रि का समय था। चारों ओर घोर अन्धकार छा रहा था। पानी कहता था, आज छोड़, कल न बरसूँगा। जिस गाड़ी में मैं सवार हुआ, उसमें मेरी पत्नी के सिवा, उस ओर के कोने में दो ग्रामीण और थे। मैंने सोचा, चलो यह ठीक रहा, गाड़ी ख़ाली है, रात चैन से कट जायगी।

अभी ट्रेन छूटने में कुछ देर थी कि मेरी गाड़ी में एक स्त्री सवार हुई। मेरा ध्यान सहसा उसकी ओर आकर्षित हो गया। वह पानी से लथपथ हो रही थी। उसके शरीर पर एक मैली धोती थी। इसके सिवा उसके पास और कुछ सामान न था। वह मेरे सामने वाली बेञ्च पर बैठ गई। मैं कुछ अन्यमनस्क-सा हो उसकी ओर देखने लगा। लज्जा से उसने सिर झुकाकर कुछ घूँघट काढ़ लिया। उसकी उमर लगभग बीस बरस की रही होगी! पर इस थोड़ी-सी उमर में ही उस पर बुढ़ापे की अस्पष्ट झलक आ गई थी। उसके मुखड़े पर शोक और विषाद की

घटाएँ छा रही थीं। रूप-रङ्ग से वह किसी भले घर की स्त्री जान पड़ती थी। उस समय वह बहुत ही भयभीत और घबराई हुई थी। उसकी दशा से मुझे यह समझने में देर न लगी कि यह मुसीबतों की सताई हुई अनाथ स्त्री है। उसके शरीर पर जो नीले रङ्ग के गोदने गोदे हुए थे, उनसे मैं यह भी जान गया कि यह किसी हिन्दू-घर की स्त्री है। इसके विषम भाग्य-चक्र ने इसे इस अवस्था में पहुँचा दिया है।

थोड़ी देर बाद एञ्जिन ने सीटी दी। गाड़ी गड़गड़ाहट के साथ चल पड़ी। अब उस स्त्री का भय कुछ-कुछ दूर हुआ। उसके मुखड़े पर सन्तोष की क्षीण प्रकाश-रेखा झलक उठी। दूसरे ही क्षण उसने मेरी पत्नी से पूछा—बाई, यह गाड़ी कहाँ जायगी, और तुम कहाँ जाओगी ?

मेरी पत्नी ने उत्तर दिया—यह गाड़ी दमोह, सागर होती हुई बीना जायगी। हम लोग बीना में एक आवश्यक काम करके आगरे जायँगे। और तुम कहाँ जाओगी ?

वह स्त्री ठण्ढी साँस लेकर बोली—कहाँ बताऊँ ! जहाँ भाग्य ले जायगा, वहीं जाऊँगी।

यह बात उसने कुछ ऐसे वेदनामय स्वर से कही कि उससे मेरे हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा। मैं उसका इतिहास जानने के लिए व्यग्र हो उठा, परन्तु उपाय क्या था ? एक तो वह दुखिया थी और दूसरे भयभीत थी,

मुझ अपरिचित को अपना हाल कैसे बतला देती? फ़ौरन मुझे एक उपाय सूझा। स्त्री, स्त्री को जिस आसानी से, जिस निष्कपटता से अपना हाल सुना सकती है, उस तरह पुरुष को नहीं। मैंने अपनी पत्नी से कहा—किसी प्रकार इसका हाल दरियाफ़्त करो! इसके बाद ही मैं बेञ्च पर लेट रहा। सोने का बहाना करके मैंने अपना मुँह ढँक लिया।

अब मेरी पत्नी ने उससे कहा—आख़िर कहीं तो जाओगी? तुम्हारी हालत ही कह रही है कि तुम मुसीबत की मारी हो! पर इस तरह घबराई हुई क्यों हो? तुम्हारी इस दशा से हमें बड़ा रञ्ज हो रहा है। डरो मत, और कोई हर्ज न हो तो हमें अपना हाल सुनाओ! बन सकेगा तो हम तुम्हारी सहायता भी करेंगी।

सहानुभूति के इन शब्दों ने उसके धीरज का बाँध तोड़ दिया। उसकी हृदय-वेदना पानी बनकर आँखों से बहने लगी। मेरी पत्नी ने उससे कहा—"बहिन! धीरज धरो, इस तरह अधीर न होओ। संसार में सभी दुखी हैं। कोई तन-दुखी है तो कोई मन-दुखी! उस ईश्वर की ओर देखो, वही सबका दुख-दर्द दूर करता है। मुझे अपना हाल सुनाओ, शायद उसने तुम्हारी मुसीबत रफ़ा करने के लिए ही तुम्हें यहाँ भेज दिया हो।" यह कहते-कहते उन्होंने अपनी ओढ़नी के अञ्चल से उसके आँसू पोंछ दिए।

यह प्रेममयी सहानुभूति पाकर उसका शोकावेग कुछ

कम हुआ। वह रुँधे हुए गले से बोली—मेरी कहानी बहुत लम्बी है और अभी मुझमें इतना बल नहीं कि आपको अपना पूरा-पूरा हाल सुना सकूँ। आज दो दिन से मेरे मुँह में अन्न का एक दाना भी नहीं गया। किसी प्रकार इन पापी प्राणों को छिपाती फिरती हूँ, पर इनके बचने की आशा नज़र नहीं आती। उन निर्दयी दुष्टों से पीछा छूटा तो अब पेट की ज्वाला आगे आ गई। पास में फूटी कौड़ी नहीं। हाय! अब मेरा क्या होगा? क्या आप मुझे खाने को कुछ दे सकेंगी?

मेरी पत्नी—हम लोग मुसलमान हैं, तुम ठहरीं हिन्दू-स्त्री। तुम हमारा छुआ भोजन कैसे कर सकोगी?

वह रमणी—थी किसी समय हिन्दू-स्त्री, पर अब तो मुसलमान हूँ, आपकी ही जाति की हूँ। अब आपका छुआ भोजन करने में मुझे कहाँ उज़्र?

उसकी इस बात से हम लोगों को बड़ा अचरज हुआ। पहनावे से हिन्दू है, सूरत-शकल से हिन्दू है, बातचीत से हिन्दू है—यह मुसलमान क्योंकर हुई? अब तो उसका हाल जानने के लिए हमारी उत्कण्ठा और भी बढ़ गई। इतने में ही मेरी पत्नी ने ट्रङ्क खोला। उन्होंने उसके सामने एक तश्तरी में कुछ हलुवा, कुछ मिठाई और कुछ फल रखते-रखते कहा—बहिन घबराओ नहीं, तुम हमारी बहिन हो। हमें अपनी ही समझो, ख़ुदा और रसूल

का कहना है कि ऐ मोमिनो, मेरे बन्दों की मदद करने से मुँह मत मोड़ो। मैं तुम्हारी मदद करने से मुँह न मोड़ूँगी। खाना खाओ और बेखटके अपना हाल सुनाओ। यहाँ तुम्हें कुछ डर नहीं है।

मेरी पत्नी के मधुर व्यवहार—सान्त्वनामयी शीतल वाणी ने उस रमणी को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। दूर देश में, जहाँ अपना कोई नहीं होता, विराने लोगों की दो मीठी बातें ही हमें कितना सन्तुष्ट, कितना शीतल कर देती हैं। स्वभावतः हम उसकी ओर आंकर्षित हो जाते हैं, उसे अपना उपकारी बन्धु समझ, उसकी इच्छा की अवहेलना हमसे नहीं हो सकती। यही दशा उस रमणी की भी हुई। वह भोजन से निश्चिन्त हुई। उसे बड़ा ही सन्तोष हुआ। वह प्रेम से मेरी पत्नी की ओर देखने लगी। उस दृष्टि में कितनी आशा, कितनी कृतज्ञता और कितनी वेदना थी! मेरी पत्नी आतुरता से बोली—अच्छा बहिन, अब ज़्यादा बेचैन मत करो, अपनी कहानी कह डालो।

भोजन ने उसके निर्बल शरीर में नए बल का सञ्चार कर दिया था। अब तक उसका भय भी दूर हो चुका था। सहानुभूति ने उसके सामने आशा का प्रकाश कर दिया था। वह शान्ति से निश्चिन्त होकर बैठी और बोली—बहिन, आप मेरी कहानी सुनने के लिए बेचैन हो

रही हैं, पर वह कहानी कितनी व्याकुलता, कितनी प्रतारणा, कितनी निराशा और कितनी घृणा से भरी हुई है, यह अभी आपको मालूम नहीं। मुझे भय है कि मेरी घृणित कहानी सुनकर कहीं आप मुझसे घृणा न करने लगें, नहीं तो मैं आपकी इस स्वर्गीय सहानुभूति से भी हाथ धो बैठूँगी। अभी सुख-सन्तोष का जो क्षीण-प्रकाश मेरे सामने आया है, वह गाढ़ अन्धकार में बदल जायगा। तब मेरा क्या होगा?

मेरी पत्नी किञ्चित् खिन्नता से बोली—बहिन, तुम्हें अभी अपने धर्म की जानकारी नहीं है, नहीं तो तुम ऐसी बातें न करतीं! मुस्लिम-धर्म किसी से घृणा करने की आज्ञा नहीं देता। वह तो घृणित से घृणित मनुष्य को गले से लगाने की आज्ञा देता है। मुस्लिम-संसार एक भारी परिवार है। उसमें रहने वाले सब स्त्री-पुरुष परस्पर भाई-भाई, बहिन-बहिन और भाई-बहिन हैं। परस्पर सहायता करना हमारे धर्म का एक अङ्ग है। बेखटके तुम अपना हाल कहे जाओ।

वह रमणी बोली—"अच्छा, तो सुनिए! मैं एक प्रतिष्ठित वैश्य-कुल की कन्या हूँ। माता-पिता का परिचय देना उनका अपमान करना है, अतः उनके विषय में कुछ न कहूँगी। मेरा पितृ-कुल पहले से ही प्रतिष्ठित था। यद्यपि भाग्य के फेर से मेरे पिता जी के वह दिन न रहे थे, पर

वे एकबारगी निर्धन भी न हो गए थे। घर में सब प्रकार के सुख-साधन मौजूद थे। हम लोगों के दिन सुख से बीतते थे। मैं अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान थी। उनका सारा स्नेह, देवता के आशीर्वाद के समान मेरा पालन-पोषण करता था। मैं उनके स्नेह की एकमात्र अधि-कारिणी, उनकी सुखमय छाया में अपनी बाल-क्रीड़ा के दिन बिताती थी। न किसी प्रकार का दुख था, न चिन्ता थी। खाना-पीना, खेलना-कूदना और अपनी ललित-लीलाओं से हँसना-हँसाना यही मेरा नित्य-कर्म था। हाय! उस समय कौन जानता था कि मुझ सुख की गोद में पली हुई को एक दिन यह भी देखना नसीब होगा और मैं पितृ-कुल की जीवित कलङ्क होकर अपना घृणित जीवन व्यतीत करूँगी।

सब दिन एक समान नहीं जाते। मनुष्य जो सोचता है, वह नहीं होता और जो नहीं सोचता, वही अचानक हो जाता है। अभी मेरी उमर ग्यारह बरस की ही थी, माता-पिता मेरे हाथ पीले कर देने के मन्सूबे बाँध ही रहे थे कि नगर पर प्लेग का आक्रमण हुआ। मेरे माता-पिता नगर से भागने की तैयारी कर ही रहे थे कि उन पर प्लेग का हमला हो गया। तीन दिन के ही भीतर माता-पिता चल बसे। मेरा प्रेम का राज्य लुट गया। करुणा और ममता की वह शीतल छाया मुझ पर से सहसा हट

गई। मेरी देख-रेख करने वाला कोई न रह गया। विडम्बनामय संसार के बीच मैं अकेली रह गई। दुर्भाग्य के ये दिन देखने के लिए मैं सही-सलामत बच गई। अब मेरे पालन-पोषण का भार मेरे चचा पर पड़ा। पिता जी की सम्पत्ति के साथ ही उन्होंने मुझ पर अधिकार प्राप्त किया। मेरे माता-पिता के देहान्त से चाचा जी बाहर ज़ार-बेज़ार रोते, पर घर में चाची के साथ हँस-हँसकर बातें करते और भाँति-भाँति के मन्सूबे बाँधा करते।

मैं ग्यारह बरस की लड़की थी। अब संसार की कुछ-कुछ बातें भी समझने लगी थी। मैं सोचती थी कि माता-पिता रहे नहीं, अब कौन मुझ पर प्यार करेगा? कौन मेरे सुख-दुख की चिन्ता से व्यथित होगा? पर शीघ्र ही मेरी यह भावना निर्मूल हो गई! अब चाचा ने पिता का और चाची ने माता का स्थान ग्रहण किया। उन्होंने माता-पिता के अभाव की एकबारगी पूर्त्ति कर दी। वे मुझ पर ख़ूब प्यार करते थे। माता-पिता तो कभी-कभी नाराज़ भी हो पड़ते थे, पर चाचा-चाची शायद नाराज़ होना जानते ही न थे। मुझे भाँति-भाँति के भोजन मिलते थे, तरह-तरह के कपड़े पहनाए जाते थे। घर-गृहस्थी के काम भी बहुत कम कराए जाते थे। चाची जो काम लेती थीं, बहुत प्रेम से लेती थीं। कहने का मतलब यह कि मैं

सब तरह से सुखी थी, मुझे नाम को भी कष्ट न था। ऐसे दयालु एवं प्रेममय चाचा-चाची पाकर मैं बहुत शीघ्र माता-पिता को भूल गई। उनके प्रेम-राज्य में मैं दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। मैं चाचा-चाची का रोम-रोम से कल्याण चाहती थी—और कहती थी, भगवान् ऐसे दयालु और प्रेमी चाचा-चाची सबको दें।

पर चाचा-चाची के इस स्नेह-राज्य में एक बात हुई। पिता जी मरने के पहले मेरे विवाह के मन्सूबे बाँध रहे थे। एक भले घर में विवाह की बात भी पक्की हो चुकी थी। यदि पिता जी को प्लेग उठा न लेता, तो शायद उसी साल मेरा विवाह हो भी जाता। अब चाचा ने वहाँ साफ़ इनकार कर दिया। दो-एक बार वहाँ से आदमी आए भी, पर चाचा ने टालमटोल कर दी! फिर उन लोगों ने भी चाचा का पीछा छोड़ दिया।

धीरे-धीरे मैं चौदहवें बरस को भी पार कर गई। मैंने यौवनावस्था में प्रवेश किया। एक-एक अङ्ग भरने लगा, सौन्दर्य का निखार होने लगा। एक-एक करके मेरे साथ खेलने वाली सब सखियों का विवाह हो चुका था, पर मैं अभी तक कुमारी थी। चाची से पड़ोस की स्त्रियाँ पूछा भी करती थीं कि चन्दन इतनी बड़ी हो गई, इसका विवाह क्यों नहीं करतीं? चाची उन्हें जवाब देतीं, क्या करें, बेटी के भाग्य सो रहे हैं! अच्छा घर-वर मिले तब न?

यह बात न थी कि चाचा जी निश्चेष्ट थे, वे बराबर प्रयत्न करते थे। बीसों स्थानों से उनके पास सँदेशे भी आते थे, पर न जानें क्यों विवाह पिछड़ता ही जाता था ? मैं अबोध बालिका विवाह न होने की बात सोचकर विवाह न होने से ख़ुश होती थी। सोचती थी, चलो अच्छा ही है, विवाह होने पर ससुराल जाना पड़ेगा ; कौन जाने वहाँ चाचा-चाची जैसे प्रेम करने वाले मिलेंगे या नहीं। कौन जाने, वहाँ यहाँ के समान सुख मिलेगा या नहीं। बेटी के लिए मायके के रूखे टुकड़े में जो मिठास है, वह ससुराल के मोहन-भोग में कहाँ ?

इधर मैं पन्द्रह बरस की हुई, उधर चाचा-चाची के मुखड़ों पर एक नए प्रकार की ख़ुशी छा गई। घर में एक नए प्रकार की चहल-पहल छा गई, मानों घर ने नया जीवन पा लिया है। मुझे मालूम हो गया कि मेरे विवाह की बात-चीत रतनपुर में पक्की हो गई है। घर-वर सभी श्रीसम्पन्न हैं। विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। परन्तु बेटी के विवाह पर माता-पिता को जो शोक-मिश्रित हर्ष होता है, चाचा-चाची के मुखड़ों पर उसका एकबारगी अभाव था—वहाँ केवल हर्ष-मिश्रित हर्ष था। यहाँ का रङ्ग-ढङ्ग एक न्यारे प्रकार का ही था। बात कुछ समझ में न आती थी—मुझे कुछ हाल साफ़ मालूम न हो पाता था। एक अज्ञात भय की आशङ्का से मेरा हृदय दबा जाता था। विवाह की बात

सुनने से मुझे ख़ुशी न होती, क्रोध आता और मैं मन ही मन चिढ़ जाती।

एक दिन मैं अटारी के ज़ीने से नीचे उतर रही थी। ज़ीने के बग़ल में ही बैठकख़ाना था। बैठकख़ाने में कुछ लोगों को बातें करते सुन, कौतूहल-वश मैं ज़ीने में ही खड़ी हो रही और कान लगाकर बातें सुनने लगी। एक आदमी मेरे चाचा से कह रहा था—आप लालच के वशीभूत हो, बहुत खोटा काम कर रहे हैं। लड़की को मँझधार में बहा रहे हैं। मैंने माना कि घर बहुत अच्छा है, पर ज़रा एक बार वर की तरफ़ तो देखिए, और फिर एक बार अपनी बेटी पर भी निगाह डालिए। क्या यह अनमिल जोड़ी ठीक रहेगी? क्या वर-वधू का जीवन सुख से बीतेगा? अब भी कुछ नहीं गया, सोच-समझकर काम कीजिए!

चाचा ने उसे जवाब दिया—आप न जानें क्या कहते हैं! माना कि वर कुछ हीन है, पर यह कैसे कहा जा सकता है कि वह सदा हीन ही रहेगा? दूसरी बात यह है कि वर हीन है तो क्या, घर तो हीन नहीं है। क्या उस श्रीसम्पन्न घर में बेटी सुख से न रहेगी? रुपया ही तो सुख का दाता है।

एक दूसरे आदमी ने, जो हमारा दूर का रिश्तेदार था, उस आदमी से कहा—आप लोग तो फ़ुज़ूल की बातें करते हैं। क्या ये ही ( मेरे चाचा ) यह नया काम करने

जा रहे हैं ? क्या आज तक बिरादरी में ऐसे बीसों विवाह नहीं हुए हैं ? फिर आप क्यों अड़ङ्गा डालते हैं ? किसी के सौभाग्य पर जलना परमात्मा को भी सहन नहीं है। क्यों परिडत जी, मैं सच कहता हूँ या झूठ ?

परिडत जी बोले—अन्नदाता ! आप बिलकुल ठीक कहते हैं। पाई-प्रीति मिलती है, ग्रह-दशा मिलती है, घर के धनी-मानी हैं। परमात्मा की दया से ही ऐसा घर-वर मिलता है।

इन बातों को सुनकर मेरे हृदय में सन्देह का कीड़ा पैठ गया—ज़रूर दाल में कुछ काला है। मन ने कहा—लाज छोड़कर साफ़ नाहीं कर दूँ। विचार जीभ पर आया, पर लाज ने जीभ पकड़ ली। हमारे समाज में ऐसे विषय पर लड़की को ज़बान खोलने का क्या अधिकार ? वह कानधरी बकरी है। माता-पिता जिसे उसका हाथ पकड़ा दें, उसी के साथ उसे चुपचाप नीचा सिर किए चली जाना चाहिए। इसी में उसकी लज्जा है, इसी में उसका गौरव है।

विवाह की तैयारियाँ हो गईं। बारात आई। नगर में धूम हो गई। मेरी ससुराल वालों ने दोनों हाथ खोल, ख़ूब धन लुटाया। उनकी उदारता ने सबको मोह लिया। जिसे देखो वही उनकी बड़ाई करता था। पर हमारे यहाँ इसका बिलकुल उलटा था। यद्यपि चाचा अमीर नहीं थे,

तो ग़रीब भी नहीं थे। इतने पर मेरे पिता का धन भी उनके हाथ लग गया था। पर उन्होंने विवाह की जो तैयारियाँ की थीं, वे उनकी हैसियत से बिलकुल ही गई बीती थीं। इस अवसर पर उनका हाथ बहुत तङ्ग हो रहा था! जो ख़र्च करते थे, वह बहुत कहा-सुनी के बाद, या जब देखते कि अब यहाँ गाँठ खोले बिना पूरा न पड़ेगा। सभी चाचा का नाम धरते थे, पर उन पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता था। वे अपने सिद्धान्त पर अटल-अचल थे।

भाँवरें पड़ीं और अब मुझ पर उनका, जिन्हें मैं बिलकुल न जानती थी, जो मेरे लिए आज तक बिराने थे, अधिकार हो गया। मुझे चाचा ने एक भी आभूषण न दिया, न कुछ दहेज ही दिया। और तो क्या, वहाँ दहेज की चर्चा भी न सुन पड़ती थी। चाचा-चाची को कुछ भी रञ्ज न जान पड़ता था, उलटा उनके मुखड़ों पर प्रफुल्लता अठखेलियाँ करती थी। रङ्ग-ढङ्ग से मैं परेशान थी। सोचती थी, यह क्या बात है? क्या चाचा-चाची मुझे सचमुच बिलकुल ही नहीं चाहते? मैं दुखी थी, अब सदा के लिए जन्मभूमि से मेरा नाता टूटा, माता-पिता का प्यारा घर सदा के लिए आँखों से ओझल हुआ। बिराने लोगों में रहना पड़ेगा, न जाने वहाँ कैसे दिन बीतेंगे।

इन्हीं बातों को सोचते-सोचते मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती थी। तब चाची दुखी होने के

बजाय, मेरा दुलार करने के बजाय, प्रसन्न होकर कहतीं—बेटी, रञ्ज क्यों करती हो, मैंने तुम्हारे लिए श्रीसम्पन्न घर ढूँढ़ दिया है, मज़े से राजरानी बनकर रहोगी। फिर तो हम लोगों को भी भूल जाओगी।

यदि इन बातों में सहानुभूति का भाव होता, तो मुझे न जाने कैसी शान्ति मिलती और चाची के प्रति मेरा स्नेह-बन्धन कितना दृढ़ हो जाता। परन्तु इन बातों में एक तरह का ताना भरा था, जो मेरे हृदय पर तीर का काम करता था। मेरा दुख दूना हो जाता था। चाचा-चाची के प्रति स्नेह के बन्धन क्रमशः शिथिल होते जाते थे। हृदय कहता था—इनसे ममता-मोह छोड़, ये तेरे हितू नहीं हैं। लाल मिर्च के भीतर हृदय-दाही ज्वाला छिपी रहती है। अन्त में मेरी विदाई हुई। चाचा-चाची के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था, फिर भी न जाने क्यों मैं ख़ूब फूट-फूटकर रोई?

मैं डोली में बैठी, माता-पिता के जीर्ण घर पर नज़र पड़ी। उनकी स्नेहमयी मूर्त्ति आँखों के आगे आ गई। हृदय उमड़कर बोला—हाय! आज वे होते×××!

ज़बान विकल होकर बोली—हाय! आज वे होते ×!

आँखें धीरज का बाँध ढहाती हुई बोल उठीं—हाय! आज वे होते×××!

कानों ने हृदय-वेधी ध्वनि में सुना—हाय! आज वे होते×××!

दरोदीवार से यही आवाज़ निकलने लगी—हाय ! आज वे होते×××!

इसी समय डोली चल पड़ी ! मेरा घर मुझसे सदा के लिए छूट गया ! मेरी जन्म-भूमि सदा के लिए मेरी आँखों से छिप गई।

अब मैं ससुराल में आई। मेरा नया जीवन आरम्भ हुआ। ससुराल में अधिक आदमी नहीं थे, केवल चार ही प्राणी थे—सास-ससुर, विधवा ननद और पतिदेवता। अब पाँचवीं मैं हुई। घर धनी था, आमदनी का-द्वार खुला हुआ था। सुख के साधनों की कमी न थी। मैं उनके एक-मात्र पुत्र की वधू थी। सास जी को अपने घर में वधू देखने की बड़ी अभिलाषा थी। और चूँकि मैं उन्हें बड़े प्रयत्न के पश्चात् प्राप्त हुई थी, इसलिए आरम्भ में मेरा बड़ा आदर हुआ—मेरा बड़ा दुलार हुआ। सास जी की मोहिनी मूर्त्ति ने मुझे मुग्ध कर लिया। वे स्वयं घर का सब काम करतीं, मुझे बर्तन भी न छूने देतीं, मेरे सोने, बैठने, नहाने-धोने और खाने-पीने की उन्हें बड़ी चिन्ता रहती। अपने हाथों मेरा शृङ्गार करतीं और भाँति-भाँति के भोजन परोसकर मुझे खिलातीं-पिलातीं।

स्त्रियाँ ही स्त्रियों की शत्रु होती हैं। एक स्त्री का सुख देख, दूसरी की छाती में हूक उठती है। सास जी के पास पड़ोस की स्त्रियाँ नित्य ही बैठा-उठा करती थीं। मेरा वह

सुख, मेरा वह लाड़-प्यार देख, वे ईर्ष्याग्नि से जल उठतीं और मेरे ही मुँह पर सास से कहतीं—सेठानी जी, तुम्हारे ये रङ्ग-ढङ्ग अच्छे नहीं। बहुओं को इस तरह सिर चढ़ाना अच्छा नहीं। बहुओं को सिर चढ़ाकर किसने नफ़ा उठाया है ? ज़रा अपने बेटे की तरफ़ तो देखो, फिर बहू पर यह लाड़-प्यार करना ! नहीं तो हाथ मल-मलकर पछताओगी। हमें क्या, हम तो तुम्हारे ही भले की कहती हैं।

उनकी ऐसी बातें सुन, मेरा ख़ून उबल पड़ता, पर भय की ओट में छिपा हुआ हृदय तड़पकर रह जाता और लज्जा जीभ में लगाम लगा देती। अन्त में मेरी वही दशा हुई, जो बहुधा बहुओं की सभी जगह हुआ करती है। धीरे-धीरे मेरा मान घट चला। प्रेम, ईर्ष्या और घृणा का रूप धारण करने लगा। एक-एक करके घर-गृहस्थी के सभी काम मेरे सिर पर आ पड़े। सास की उस मोहिनी मूर्त्ति ने अब बड़ी ही विकरालता धारण कर ली। मैं घर की दासी से भी नीच समझी जाने लगी। मेरा जैसे उस घर में कुछ भी अधिकार न रहा। सास जी मुझ पर मनमाना शासन करने लगीं। मेरी भली बात भी उन्हें बुरी लगती। मैं कोई बात पूछती, तो अनाप-शनाप उत्तर पाती। मेरे प्रत्येक काम में, मेरी बात-बात में, मेरे पहनने-ओढ़ने में, मेरे खाने-पीने में, यहाँ तक कि मेरे सोने में भी उन्हें दोष दीखने लगा। मैं बात-बात में झिड़की जाती, पग-पग पर

मेरा अपमान होता। सास जी मनमानी गालियाँ देतीं, ससुर जी भी उनसे पीछे न रहते और विधवा ननद तो आफ़त की पुड़िया ही थी। जब तक सास ठीक थीं, तभी तक उसका साहस छिपा हुआ था। सास के बिगड़ते ही वह चौगुनी बिगड़ उठी। वह न जाने मेरी किस जन्म की बैरिन थी। वह मुँह चलाकर ही न रह जाती, हाथ भी चला बैठती थी। सास-ससुर भी उसी का पक्ष लेते। मैं उसकी नज़र बदलते ही थरथर काँपने लगती।

अब मैं आपको अपनी इस कष्टमयी परिस्थिति का मूल कारण बतलाऊँगी। मेरी यह दशा मेरे पति के ही कारण हो रही थी। वे आयु में तो मेरी बराबरी के थे, पर शरीर में मुझसे बिलकुल हीन थे। सदा बीमार ही बने रहते थे। कुछ-कुछ पागल भी थे। हमेशा उनकी दवा होती रहती थी। मेरी सास को घर में बहू लाने और गोद में नाती लेने की बड़ी अभिलाषा थी। पर पतिदेव की उस दशा के कारण उनकी अभिलाषा के मार्ग में काँटे बिछे हुए थे। बिरादरी का कोई आदमी उन्हें बेटी न देता था। जब ससुर जी प्रयत्न करके हार गए, तब उन्होंने अपना अन्तिम शस्त्र निकाला! रुपए के बल से क्या नहीं हो सकता? ससुर जी के दूत मेरे चाचा के पास पहुँचे। पहले तो उन्होंने टाल-मटोल की, पर जब दूतों ने रुपयों की थैली दिखाई, तब तो उनकी बुद्धि फ़ौरन ठिकाने आ गई।

मोल-भाव होने लगा, अन्त में पाँच हज़ार में मेरी बिक्री हुई। लगभग सवा रुपए तोले के भाव से मेरा शरीर बेचा गया।

उस दिन—विवाह के पहले—बैठकख़ाने में वे सज्जन इसी घृणित पाप-कर्म से बचने के लिए चाचा जी को समझा रहे थे, पर लोभी आँखें रहते हुए भी अन्धे हो जाते हैं—उन्हें अच्छा-बुरा और पाप-पुण्य नहीं सूझ पड़ता। ससुराल में आने पर मुझे यह रहस्य मालूम हो गया। मैं-उनकी ख़रीदी हुई दासी हूँ, एक इसी बात से मेरा सारा स्वाभिमान नष्ट हो जाता था। मारे शर्म के मेरा सिर ऊपर न उठता था। आज चाचा-चाची का वह कपट-प्रेम याद आता है। क्यों वे मुझे इतने लाड़-प्यार से पाल-पोस रहे थे ? क्यों मेरे विवाह का समय टल रहा था और क्यों बीसों जगह के सँदेशे बातों-बातों में ही अनसुने कर दिए जाते थे ? बात यह है कि लोभी चाचा धनवान् बनने के लिए अवसर देख रहे थे। उन्हें न मुझसे प्रेम था, न सहानुभूति थी, न मेरे सुख-दुख का ही ख़्याल था। ज्योंही उन्होंने रुपयों की भारी थैली देखी, त्योंही नीलाम की बोली ख़तम कर दी। मोल लेने वाले को सौंपने के लिए विवाह तो एक बहाना था। इसीलिए विवाह में उन्होंने कोई तैयारी नहीं की थी, इसीलिए उस समय फूले-फूले फिरते थे ; इसीलिए उन्होंने मुझे कुछ आभूषण या दहेज

न दिया था; इसीलिए मुझे रोती देखकर वे प्रफुल्लित होते थे। चाची तानेज़नी करती थीं। ऐसे लोभी चाचा को मेरे सुख-दुख की ख़बर लेने की क्या आवश्यकता थी? दूसरी बात यह कि मैं ससुराल वालों की ख़रीदी हुई दासी थी। मुझे सताने का, मेरा अपमान करने का उन्हें पूरा अधिकार था ही।

मेरी उठती हुई जवानी थी। शरीर में यौवन की छवि छलकी पड़ती थी। मेरा हृदय प्रेम का प्यासा हो रहा था, मन उमङ्गों से भरा हुआ था। परन्तु पतिदेव बिलकुल नादान थे। शायद उनका हृदय पत्नी-प्रेम से बिलकुल शून्य था। अब उनकी सेवा का भार भी मुझही पर आ गया था। मैं कहने के लिए उनकी सेवा करती भी थी, पर हृदय उनसे दूर ही रहता था। वे मेरे ही कमरे में सोते थे, पर मुझसे सीधे बात भी न करते थे। और उन्हें बात करने का शऊर भी न था। मेरा हसरतों से भरा दिल बैठा जाता था। रात तारे गिनकर काट देती थी। स्त्री का हृदय प्रेम का प्यासा होता है, पर जब उसकी वह उत्कट पिपासा शान्त नहीं होती, तब वह अस्थिर हो जाती है, उसे चारों ओर निराशा, अन्धकार, व्याकुलता और क्षोभ के दर्शन होने लगते हैं।

इधर सास जी को नाती को गोद में लेने की बड़ी अभिलाषा थी। मेरे विवाह को तीन बरस हो चुके थे, पर

उन्हें इस अभिलाषा की छाया का दर्शन भी न होता था। इससे वे मुझ पर और भी रुष्ट होतीं, भाँति-भाँति से मेरा अपमान करतीं, गोया बच्चा उनकी गोद में दे देना मेरे ही वश की बात थी। कभी-कभी तो वे अपने बेटे का दूसरा विवाह कर डालने की बात बड़े जोश से कह डालतीं। मैं ख़ून का घूँट पीकर रह जाती। लज्जा मुझे ओंठ भी न खोलने देती। मुझ पर भाँति-भाँति के अत्याचार होते, पर पतिदेव टुकुर-टुकुर देखा करते! मैं उनकी दो मीठी बातों के लिए तरसती, पर उन्हें अपनी व्याधि से ही छुट्टी न मिलती। उनकी ओर से मैं बिलकुल निराश हो चुकी, मेरे हृदय में उनके प्रति स्नेह का एक अणु भी न रह गया। एकान्त में मन ही मन अपने दुर्भाग्य को कोसा करती— हाय परमेश्वर! ऐसा पति किसी रमणी को प्राप्त न हो।

सास-ससुर मुझ पर अत्याचार करते थे, मुझे नादान पति मिला था, नित्य ही मेरी उमङ्गों का ख़ून होता था। यह सब कुछ था, परन्तु मेरा चरित्र नितान्त शुद्ध था। हृदय में कोई खोटी भावना उत्पन्न भी न हुई थी। अपने दुर्भाग्य को कोसकर रह जाती थी। परन्तु एक दिन अचानक मेरी धर्म-नौका में छिद्र हो गया, वह पतन की लहरों में लहराने लगी, उसमें अधर्म के थपेड़े लगने लगे और अन्त में एक दिन वह पाप के समुद्र में सदा के लिए डूब गई। हमारे घर में एक कहार था, सुन्दर सलोना

रूप, हृष्ट-पुष्ट शरीर। घर में आने-जाने की उसे कोई रोक-टोक न थी। एक दिन रात्रि को मैं उठी। मेरे कमरे से आँगन की ओर जो सह थी, उसी पर एक तरफ़ ननद के सोने का कमरा था। जब मैं उसके कमरे के पास पहुँची तो कुछ फुसफुसाहट-सी सुनाई दी। मैं उसके कमरे में झाँकने लगी, तो क्या देखती हूँ कि पलङ्ग पर वही कहार बैठा हुआ है, ननद उसकी गोद में लेटी हुई है और वह उसके गालों पर प्यार से हाथ फेर रहा है। मैं सन्नाटे में आ गई। मेरी नसों में तेज़ी से ख़ून दौड़ने लगा, हृदय धड़कने लगा! जी में आया कि शोर मचा दूँ, पर पीछे सोचा कि यहाँ मेरा कौन बैठा है; कहीं ऐसा न हो कि यह बला मेरे ही गले पड़ जाय। इससे चुप रहना ही ठीक है।

ननद के इस कर्म का मुझ पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इस खोटे कर्म करने वाली को मुझ पर अत्याचार करने का, मेरा अपमान करने का क्या अधिकार है? तत्काल उसका प्रभाव, उसका भय और उसकी मान-मर्यादा मेरे हृदय से जाती रही। हृदय में साहस और प्रतिकार की भावना का सञ्चार होने लगा। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब यह एक कहेगी, तो मैं चार कहूँगी। मैंने शीघ्र ही सङ्कल्प की सत्यता का पालन किया। मैं ननद से ज़रा भी न डरती और न उसकी आज्ञाएँ ही सुनती। और जब

वह चिढ़कर कुछ अनाप-शनाप कहती, तो मैं उसकी सात पीढ़ी को पानी देती। सास भी ननद पर बहुत मरती थीं। अपनी बेटी का अपमान उनसे कैसे सहा जाता? वह भी ननद का पक्ष ले, मुझ पर टूट पड़तीं, पर मेरी चोखी बातें उनकी ज़बान पर ताला लगा देतीं।

इस प्रकार घर में दिन-रात दाँता-किलकिल मची रहती! इस दाँता-किलकिल में भी मुझे एक तरह का सन्तोष होता था—आनन्द मिलता था। मैं सास-ससुर और ननद की आँखों में शूल के समान खटकने लगी। बेचारे पति जी शान्त रहते थे, किसी ओर को न कहते थे। उनकी इस शान्ति से मेरा क्रोध भीतर ही भीतर भड़कता था। जब मैंने दबना बिलकुल छोड़ दिया, सेर की सवा सेर हो गई, सास-ससुर अपने मन की करके हार गए, तब सबने मुझसे किनारा कर लिया। न मुझसे कोई बोलता, न कोई काम करने को ही कहता। यह मेरा और मेरे अधिकार का घोर अपमान था। इससे मुझे शान्ति नहीं मिली। मैं मन ही मन जला करती थी। दिनभर कोई काम न रहता, चुपचाप कमरे में बैठी रहती। कोई दो बातें करने वाला भी न दिखता। घर वालों के इस व्यवहार से मैं ऊब गई—घबरा उठी। उन्हें छकाने के लिए नित्य नए-नए मन्सूबे बाँधती, पर उसी तरह निष्फल जाते, जैसे पानी की हिलोरें चट्टान से टकराकर रह जाती हैं।

सुस्त दिमाग़ शैतान की दूकान के समान होता है; भाँति-भाँति के विचार उत्पन्न होते हैं, नइ-नई शरारतें सूझती हैं। एक दिन मेरे मन में आया—उफ़! ईश्वर भी कैसा अन्यायी है! विधवा ननद पाप करती है, घर वाले उस पर प्यार करते हैं, वह मौज करती है। एक मैं हूँ, अच्छी चाल चलती हूँ, घर वाले जान खाए डालते हैं। तब ननद अच्छी या मैं—ननद पाप करती है या मैं? मैं ही पाप करती हूँ, तभी तो दुख पाती हूँ। तब मैं भी ननद के समान ही क्यों न जीवन बिताऊँ? और नहीं तो यह ज्वाला तो कुछ शान्त होगी—संसार का कुछ आनन्द तो पाऊँगी! आत्मा ने धिक्कार दिया, पर मन ने वासना की तलवार से उस धिक्कार के टुकड़े-टुकड़े कर डाले—मन की ही विजय हुई! मेरा सङ्कल्प दृढ़ हो गया। हाय! वह कैसी बुरी घड़ी थी। मैं क्या जानती थी कि फूल के नीचे ज़हरीला कीड़ा छुपा बैठा है। हरी-हरी पत्तियों के नीचे काँटे का वास है। जिसे मैं प्रतिहिंसा की अग्नि को शान्त करने के लिए शीतल जल समझती हूँ, वह स्वयं जलती हुई अग्नि है, और जिसे छूकर मैं ही क्या, मेरा शरीर, मेरे मन-प्राण और मेरे दोनों लोक तक राख हो जायँगे। वासना का रूप कैसा मोहक है— उसकी मदिरा कितनी नशीली है!

जहाँ चाह है, वहाँ राह सहज ही निकल आती है।

शाम का समय था, आकाश अग्नि-वर्ण हो रहा था, पक्षी अपने-अपने घोंसलों को उड़े जा रहे थे। मैं ऊबकर घर के पिछवाड़े की छत पर जा चढ़ी। आज पहली बार ही मैं इस छत पर आई थी। मेरे मकान के सामने ही एक मामूली घर था। मैं उसी ओर को देखने लगी। अभी मुझे छत पर पहुँचे पाँच मिनट भी न हुए थे कि उस घर में से एक नवयुवक निकला। वह बड़ा ही सलोना और मनोहारी था, हँस-मुख, रसीले नेत्र, सिर पर ज़ुल्फ़ें, पञ्छीला शरीर। मैं एकटक उसकी ओर देखने लगी। थोड़ी देर में उसने भी मुँह ऊपर उठाया। मुझ पर उसकी दृष्टि पड़ी, उसने मुस्करा दिया। मैंने लज्जा से सिर झुका लिया। चट-पट नीचे उतर आई। निश्चय किया—मैं भले घर की बहू-बेटी हूँ, मुझे देखकर वह क्या कहता होगा ! अब कभी छत पर न जाऊँगी। कमरे में आकर बड़ी देर तक मैं उसी के विषय में सोचती रही।

हृदय कहता था—तू बड़ी पापिन है, निर्लज्ज है। पराए आदमी को इस बेहूदगी से देखती रही, ख़बरदार ! अब कभी ऐसा न करना—यह बहुत बुरा रास्ता है।

मन कहता था—वाह ! कैसी प्यारी सूरत है। परमेश्वर ने ये प्यारी-प्यारी वस्तुएँ किस लिए बनाई हैं ? क्या उनके देखने में भी पाप है ?

हृदय कहता था—हाँ पाप है। यदि पाप की नज़रों

से देखो तो ! यदि मन शुद्ध है, आँखों में पाप नहीं है, तो देखने में पुण्य भी है। अन्त में हृदय की ही विजय हुई।

दूसरा दिन आया। शाम हुई। किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा ने फिर छत पर पहुँचा दिया। परन्तु आज मुझे वह न दिखा। मैं खिन्न हो, कुछ टहलकर नीचे लौट आई। तीसरे दिन फिर छत पर पहुँची। इस बार फिर उसके दर्शन हुए। उसने मुझे देखकर उसी तरह मुस्करा दिया। मैं एक तीखी नज़र से उसे देखकर नीचे लौट आई। हृदय बार-बार कहता था कि तू यह क्या कर रही है ? अब भी सँभल जा, नहीं तो पछताएगी। पर मन उसकी एक न सुनता था। घर वालों की किनाराकशी भी इस विषय में मेरी सहायता कर रही थी। कोई अच्छे-बुरे का भेद बतलाने वाला तो था नहीं। मन उसकी ओर बेतरह खिंचा जा रहा था। मैं रोज़ ही छत पर जाने लगी। पहले मेरी ओर देखकर वह मुस्कराता था, अब उसकी ओर देखकर मैं भी मुस्कराने लगी। फिर आँखों ही आँखों में हमारी बातें भी होने लगीं और अन्त में इशारेबाज़ी भी होने लगी। वह बेतहाशा मेरी ओर झुक रहा था और मैं उसकी ओर बड़े वेग से खिंची जाती थी ; घर वाले, पति, धर्म, मान-मर्यादा के विचार—सभी पीछे छूटते-जाते थे।

हम लोग इस जुदाई से बेचैन होने लगे। धीरे-धीरे

हम लोगों की विषय-वासना के प्रबल आघात ने जुदाई की दीवार ढाह दी। वह मौक़ा पाते ही मेरे पास आ पहुँचता, उसकी मीठी-मीठी बातों ने, उसकी प्रेम-चेष्टा ने, मुझे उसके चरणों में झुका दिया। मैंने अपना परम धर्म—सतीत्व—उस पर निछावर कर दिया। यह सब होता रहा, पर घर वाले अँधेरे में ही रहे—उन्होंने अब भी मेरी ख़बर न ली।

एक दिन उसने मुझसे कहा—इस तरह तो मिलना-जुड़ना ख़तरें से ख़ाली नहीं है। पड़ोस वाले हम पर सन्देह करते हैं। यदि किसी दिन पकड़ गए, तो बड़ी ख़राबी होगी। तुम तो बड़े घर की बहू हो, तुम्हारी कुछ अधिक हानि न होगी! मौत मेरी है। मुहल्ले में रहना मुश्किल हो जायगा। सो अब तो मैं इस प्रकार न मिल सकूँगा।

उसकी यह बात मुझे जँची। मैंने अधीर होकर कहा—यदि तुम न मिलोगे, तो मुझे कुछ भी अच्छा न लगेगा। तुम्हारे बिछोह से मैं दीवानी हो जाऊँगी। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे तुम्हारा बिछोह न हो?

उसने जवाब दिया—इधर तुम दीवानी हो जाओगी और उधर मैं भी दीवाना हुए बिना न रहूँगा। पर क्या करें, लाचारी है। बिछोह न होने का उपाय तो है—बिलकुल सहज है, पर शायद तुम उसे न मानोगी। वह मुस्कराकर बोला—एक दिन तैयारी करो, यह घर छोड़

दो। चलो, परदेश में निकल चलें। वहाँ हम पर उँगली उठाने वाला कोई न होगा—दिन चैन से कटेंगे।

यह सुन मैंने घबराकर कहा—यह क्या कहते हो? मैं निकल भागूँगी तो दोनों कुलों में दाग़ लग जायगा। लोग मेरे नाम पर थूकेंगे। और इसका क्या ठिकाना कि परदेश में हमारे दिन सुख से ही बीतेंगे?

उसने हँसकर कहा—तुम पगली हो। लोगों को थूकते क्या लगता है? उनका मुँह है, जब चाहें थूका करें, कौन रोक सकता है? पर यह तो कहो कि उन्होंने कभी तुम्हारे सुख-दुख की भी ख़बर ली है या नहीं? दूर क्यों जाती हो? अपने ही चचा को देखो, अपने भले के लिए उन्होंने तुम्हें इन दुष्ट लोगों के हाथों बेच दिया, फिर उस दिन से तुम्हारी बात भी न पूछी। अपने सास-ससुर को देखो, नाती खिलाने की कैसी लालसा रखते हैं, पर तुम मरती हो या जीती, इसकी उन्हें कुछ चिन्ता नहीं। संसार का यही नियम है, सब अपने-अपने सुख के लिए दीवाने हो रहे हैं, और दूसरे का दुख देखकर हँसते हैं। जो बुद्धिमान् हैं, या जिन्हें ईश्वर ने थोड़ी बुद्धि दी है, वे पहले अपने स्वार्थ की ओर देखते हैं। वे लोगों के हँसने की चिन्ता नहीं करते। लोक-लाज का यह झूठा ख़्याल दिल से निकाल दो। अपनी यह फूल-सी देह दुख की ज्वाला में मत झुलसाओ। मनुष्य का शरीर मिलना सहज नहीं है, इसे

पाकर संसार के सुखों से मुँह मोड़ा, तो संसार में आने का लाभ ही क्या हुआ ?

परन्तु उसकी बातें मुझे जँचती न थीं। किसी अज्ञात शक्ति के आघात से हृदय दहल जाता था। मन में आता था कि उससे इस विषय में साफ़ नाहीं कर दूँ। विचार मस्तिष्क से जीभ तक आता था, पर मुहब्बत की दीवार देख, आगे बढ़ने का साहस न करता था। मैं कई दिन तक टालमटोल करती रही, परन्तु उसने अपना इरादा नहीं बदला। उसकी मधुर बातों, उसके प्रेमाग्रह और उसके प्रलोभनों ने मुझ पर विजय प्राप्त कर ली। हृदय लाचार हो गया, ज़बान राज़ी हो गई।

एक दिन हमारे भागने की सलाह पक्की हो गई। शाम होते ही मैंने अपना शृङ्गार किया। सब आभूषण पहन लिए। अच्छे-अच्छे कपड़ों की एक गठरी बाँध ली। इस प्रकार मैं भागने के लिए तैयार हो गई। हृदय में ज़ोरों का तूफ़ान उठ रहा था, मन बहुत ही बेचैन था। मैं क्या करने जा रही हूँ—यही मेरी समझ में न आता था। रह-रहकर हृदय धड़क उठता था। इसी बेचैनी में आधी रात होगई। मेरी नज़र दरवाज़े पर लगी हुई थी। थोड़े से खटके से ही मैं चौंक उठती थी। लगभग एक बजे रात को उसने इशारा किया। उसने गठरी ले ली, मैं कपड़ों में अपने को ख़ूब लपेट-कर उसके पीछे-पीछे चली। वह समय बरसात का था।

आकाश में बादल घिर रहे थे। चारों ओर घोर अँधियारी छाई हुई थी, हाथ को हाथ न सूझता था। तारों ने बादलों की ओट में अपना मुँह छिपा लिया था, मानों वे मेरा यह पाप नहीं देखना चाहते थे। रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। हृदय कहता था—सँभल जा, नहीं तो गड्ढे में गिर जायगी। पर पैर ज़बर्दस्ती मुझे आगे खींचे ले जा रहे थे—मेरा मन उस समय क़ाबू में न था। थोड़ा चलने के बाद ही हम लोग सड़क पर पहुँच गए। वहाँ पहले से ही ताँगा तैयार था। हमारे सवार होते ही घोड़े पर चाबुक की फटकार पड़ी। बात की बात में उसने हमें स्टेशन पर पहुँचा दिया।

टिकट कटाते ही हम लोग गाड़ी में सवार हुए। गड़-गड़ाती हुई गाड़ी चल दी। मैं अब भी उसी प्रकार कपड़े में लिपटी हुई, सिमटी-सिमटी एक कोने में बैठी थी। हृदय की धड़कन और बेचैनी अब भी वैसी ही थी। हाय! मैं यह क्या कर बैठी? मेरी आँखें भर आईं, पर उन्हें मेरे सिवा और कोई न देख सका।

दूसरे दिन गाड़ी रायपुर पहुँची। हम लोग गाड़ी से उतरे। मैं एक मामूली से घर में पहुँचाई गई। इस घर में उसके नातेदार रहते थे। वे लोग मुसलमान थे। घर में चारों ओर गन्दगी भरी हुई थी। ग़रीबी का वहाँ प्रत्यक्ष राज्य था। स्त्रियों और बच्चों पर चिथड़े लग रहे थे, घर

में मिट्टी के ही बर्तन नज़र आते थे। यह हाल देखकर मेरा माथा ठनका। विषय-वासना ने मेरी आँखें अन्धी कर रक्खी थीं। आज मालूम हुआ कि मेरा चाहने वाला, वास्तव में हिन्दू-भेष में मुसलमान था। उसके मोहन रूप ने मुझे ठग लिया। मैं बुरी तरह लुट गई। मेरा सतीत्व नष्ट हुआ, धर्म नष्ट हुआ। घर-द्वार छूटा, इज़्ज़त और अस्मत बिगड़ी, दोनों लोक बिगड़े, मैं कहीं की न रही। हाय, यह धोखा! पहले ही मालूम हो जाता, तो क्यों इस प्रकार बर्बाद होती। इस धोखेबाज़ ने पहले अपने को हिन्दू बतलाया था। कहता था—मेरे घर में किसी बात की कमी नहीं है— तुम्हारे दिन ख़ूब सुख से कटेंगे। महलों का स्वप्न देखते-देखते मैं झोपड़ी में आ गई। मैं आठ-आठ आँसू रोने लगी। पर अब रोने-पछताने से क्या होता था? तीर छूट चुका था, उसे लौटाने का कोई उपाय न था। मुझे उससे एक बारगी घृणा होगई।

शाम हुई। कुछ रात गए घर के सब लोग मुझे घेर-कर बैठ रहे। मेरे शरीर पर कोई दो हज़ार के आभूषण थे। सबकी लोलुप दृष्टि उन्हीं पर अटक रही थी। एक अधेड़ आदमी ने, जो उस घर का स्वामी जान पड़ता था, उससे कहा—मियाँ मुस्तफ़ा! तुम इस औरत को उड़ा लाए हो, यह बहुत बुरा किया; और यह और भी बुरा किया कि तुम इसे मेरे यहाँ ले आए। बाबा! मैं ठहरा ग़रीब

आदमी। मैं अपने सिर पर आफ़त नहीं ले सकता ; और यदि ले भी लूँ, तो मुझे क्या फ़ायदा ?

उसने जवाब दिया—चाचा, आपको तो मेरी हालत मालूम ही है। मेरे पास है ही क्या ? आप आफ़त से हर्गिज़ न डरें। यह हिन्दू-औरत है। बहुत बड़े घर की बहू है। वे लोग यहाँ इसका पता लगाने और अपनी बदनामी कराने हर्गिज़ न आएँगे।

तब उस अधेड़ आदमी ने जवाब दिया—वे चले भी आएँ, तो मैं उनसे नहीं डरता। तुम कहते हो मेरे पास क्या रक्खा है ? और यह औरत जिन ज़ेवरों से लद रही है, वे अब किसके हैं ? तुम्हारे ही न ? साफ़ बात यह है कि तुम मुझे कुछ हिस्सा दो, और ख़ुशी से घर में बने रहो। अगर मेरी बात न मानोगे, तो मैं पुलिस में ख़बर कर दूँगा।

पुलिस का नाम ही बुरा होता है, वह सुनते ही सिट-पिटा गया और मेरे तो होश ही जाते रहे। क़िस्सा-कोताह, सात-आठ सौ के आभूषण देकर उससे पीछा छुड़ाया।

अब उसी घर की एक कोठरी में रहकर मैं अपना नारकीय जीवन बिताने लगी। पर्दे की बड़ी सख़्ती थी। क्या मजाल, जो मैं बाहर झाँकने के लिए सिर तो उठा पाती। धीरे-धीरे मेरा शोकावेग कम हुआ। मुझ पर उन लोगों का रङ्ग चढ़ने लगा। अब मुझे उस गन्दे घर में

रहने का अभ्यास होने लगा। मैंने भी मन को मारना ही ठीक समझा। सोचा, अब तो जीवन इसी घर में बिताना पड़ेगा, यहाँ अब वे बातें कहाँ ? किसी तरह तो शान्ति से दिन कटें। मैं उसकी ख़ुशी की ख़ातिर, उसी की इच्छानुकूल, चलने की चेष्टा करती। छाती पर पत्थर रख, उसके मन का आचार-व्यवहार स्वीकार करती।

इस तरह कुछ दिन बीतते न बीतते मेरे निकाह की चर्चा चली। अब मुझे मालूम हो गया था कि निकाह मुसलमान-समाज का एक आवश्यक धर्म है। निकाह हो जाने पर स्त्री का पुरुष परं विशेष अधिकार हो जाता है। जब तक निकाह नहीं हो जाता, तब तक स्त्री का पुरुष पर कोई अधिकार नहीं—उसका जी चाहे वह स्त्री को रक्खे, जी चाहे निकाल बाहर कर दे। उस घर की एक बुढ़िया मुझे कुछ-कुछ चाहती थी। एक दिन उसने मुझसे कहा—बेटी, अपना भला चाहती है, तो शरा करा ले। ऐसे इसका भरोसा न करना, यह कोई ठीक आदमी नहीं है।

मुझे उसकी बात जँच गई। मैंने उसी दिन उससे निकाह की चर्चा छेड़ दी। पहले तो वह टालमटोल करता रहा, अन्त में मेरे आग्रह से वह रास्ते पर आया। क़ाज़ी जी बुलाए गए। मुझे कलमा पढ़ाया गया। मैं मुसलमान होगई। तब एक प्याला पिलाकर, उसके साथ मेरा निकाह पढ़ा दिया गया। मेरी जान में जान आई।

अब मैं मुसलमान होगई थी। उसके साथ मेरा निकाह भी हो चुका था, और मैं उस पर विवाहिता स्त्री के बराबर अधिकार प्राप्त कर चुकी थी, यद्यपि इस स्थिति से मुझे कुछ प्रसन्नता न थी, तो भी यह सोचकर कुछ सन्तोष होता था कि अब विशेष चिन्ता नहीं है, अब यह मुझे त्याग नहीं सकता। किसी प्रकार जीवन के दिन बीत ही जायँगे। परन्तु शीघ्र ही यह आशा-स्वप्न भङ्ग हो गया। मेरा फूटा भाग्य और भी फूट गया। अभी दुख-ज्वाला शान्त हो ही रही थी कि पुनः अशान्ति का ईंधन पाकर वह हाहाकार करके प्रज्वलित हो उठी। एक दिन अचानक उस घर में एक नवीन स्त्री आ पहुँची। वह मेरी ही उमर की थी। उसकी गोद में छः-सात महीने का एक बच्चा भी था, उसका रूखा चेहरा उसकी कठोरता—निर्ममता का परिचय देता था। उसे देखते ही मैं सिहर उठी। शीघ्र ही मुझे यह मालूम होगया कि आगन्तुका मेरे पति की विवाहिता पत्नी है, वह अभी मायके में थी। यह जानकर मैंने अपना माथा पीट लिया।

मुझे यह समझने में देर न लगी कि यह मेरी सौत है, मेरे दुर्भाग्य की जीती-जागती उग्र-मूर्त्ति है। यह विवाहिता है, बच्चे वाली है। इसके सामने मेरी क्या पूछ होगी? इसके साथ मेरा चलाव चलना कठिन है। शीघ्र ही इस आशङ्का ने सत्य का रूप धारण किया। मेरी सौत मुझ पर

बात-बात में बिगड़ने लगी। वह बात-बात में मुझे गालियाँ सुनाती और मेरा घोर अपमान करती। पर पति उससे कुछ न कहता। वह चुपचाप उसका अत्याचार देखा करता। इससे मेरे हृदय पर गहरी चोट लगती, मैं सोचती—यह कैसा कठोर आदमी है। इसकी मुहब्बत में पड़कर मैंने क्या नहीं किया—उस विशाल महल को छोड़, इसकी झोपड़ी बसाई, धर्म को तिलाञ्जलि दी, इज़्ज़त और अस्मत बर्बाद की, दुनिया की बदनामी उठाई, सब तरह इसके इच्छानुकूल चली, फिर भी इसके पास ख़ाली हाथ नहीं आई, तो भी मेरे साथ इसकी सहानुभूति नहीं। जब मैं मौक़ा पाकर उससे कुछ शिकायत भी करती, तब वह रूखी हँसी हँसकर जवाब देता—मैं क्या करूँ? वह विवाहिता है, तुम भी प्यारी हो, मैं किससे क्या कहूँ? जैसा तुम्हें दिखे, करो।

धीरे-धीरे अपमान सहते-सहते मैं ऊब उठी। मेरा स्वाभिमान जाग्रत हुआ। मैं भी भय छोड़, सौत को चोखे-चोखे जवाब देने लगी। फिर तो रोज़ ही दाँता-किलकिल होने लगी।

हमारी तीसों दिन की खटपट से उस घर के लोग ऊब उठे और उन्होंने हमें घर से निकाल दिया। हम लोग दूसरे घर में रहने लगे। इसके साथ ही मेरी आपत्ति और भी बढ़ गई। अभी तक उस घर की दो-एक स्त्रियाँ मेरा पक्ष

लेती थीं, मुझसे सहानुभूति दिखलाती थीं, अब मेरा वह सहारा भी छूट गया। मेरी सौत की तो मानों बन पड़ी। ग़नीमत इतनी थी कि पति हमारे झगड़े में न बोलता था। वह ताँगा हाँका करता था और धीरे-धीरे मेरे आभूषण भी हथियाता जाता था। मैं कितनी ही टालमटोल करती थी, पर मेरी एक न चलती थी।

दो बरस होते न होते मेरे पास कुछ भी शेष न रहा। इधर आभूषण ख़तम हुए, उधर पति भी खुल पड़ा। अब वह खुल्लमखुल्ला अपनी विवाहिता की तरफ़ हो गया। मैं उसकी नज़रों से एक बारगी गिर गई। अब वह मुझसे खुलकर बातें भी न करता। मैं कुछ कहती भी तो वह न सुनना चाहता। वे दोनों घुल-घुलकर बातें करते, हँस-हँस-कर बच्चे पर प्यार करते और मुझे जलाते। अब घर में मानों मेरा कुछ भी अधिकार न रह गया। उस घर की स्वामिनी होते हुए भी मैं पूरी दासी बन गई। दिन-दिन भर घर का काम करती, तो भी अपमान सहती। अब सौत का पक्ष लेकर पति भी मुझे झिड़कने लगा। बात यहीं तक न रही, धीरे-धीरे मुझ पर मार भी पड़ने लगी; और फिर पेट भी काटा जाने लगा। वे दोनों मौज करते—स्वादिष्ट भोजन करते; और मैं उनका मुँह देख-देख आँसू बरसाया करती। मेरा जीवन दूभर हो गया। अब मुझे यह समझने में कुछ भी बाक़ी न रहा कि इस घर में मैं इसी प्रकार

घुल-घुलकर मर जाऊँगी। एक दिन मैंने पति से कहा—मैंने तुम्हारे प्रेम में पड़कर अपनी बर्बादी कर डाली और अब उसके बदले में यह त्रास पा रही हूँ। आख़िर मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?

उसने घृणा की हँसी हँसकर जवाब दिया—तू इसी लायक़ है। जब तू अपने विवाहिता पति की न हुई, तब क्या भरोसा कि तू मेरी होगी !

मेरे भाग्य का फ़ैसला होने में अब कुछ भी बाक़ी न रह गया। मोह का पर्दा टूक-टूक होगया। मैंने उससे गरजकर कहा—रे पापी, स्वार्थी ! क्या तूने मुझे इसीलिए बहकाया था ? जब तक मेरे पास माल रहा, तभी तक तू मेरा बना रहा। अब ये बातें !

मेरा इतना कहना था कि उसने डण्डा उठाया। मार खाते-खाते मैं बेहोश हो गई। जब मुझे होश आया, तब मैंने देखा कि मैं रात्रि के गहरे अन्धकार में दालान में पड़ी हुई हूँ। वे लोग साँकल लगाए घर के भीतर खर्राटे मार रहे हैं। मैं चुपके से उठी और बाहर निकली। उस समय स्टेशन को ताँगे जा रहे थे। मैं भी छिपती-छिपती स्टेशन पहुँची। पास में फूटी कौड़ी भी न थी, बिना कुछ सोचे-विचारे गाड़ी में सवार होगई; और अब किसी प्रकार आपके पास तक आ पहुँची हूँ। भूख-प्यास सहते आज दो दिन हुए। आपकी दया से अब कहीं अन्न का मुँह देखा।

यह कहते-कहते वह फूट-फूटकर रोने लगी !

उसकी करुणामयी कथा सुनकर मेरी आँखें भर आईं। हाय हिन्दू-समाज ! एक ठण्ढी साँस ले, मैं उठकर बैठ गया।

इतने में मेरी पत्नी ने उसके आँसू पोंछते-पोंछते उससे कहा—बहिन, धीरज धरो ! भाग्य का लिखा कौन मेट सकता है ? घबराओ नहीं, मुझे एक स्त्री की ज़रूरत भी थी। अब तुम मेरे पास रहना, मेरे यहाँ तुम्हें कुछ कष्ट न होगा !

कुछ दिन तक यह स्त्री मेरे यहाँ रही। बाद में मेरे एक मुसलमान-मित्र ने उसके साथ निकाह पढ़ा लिया ! अब उसके दिन आनन्द से बीतते हैं। दम्पति में ख़ूब प्रेम है। दो-तीन बरस हुए, वह अपने पति के साथ हज की यात्रा भी कर आई है।

# एक ईसाई की आत्म-कथा
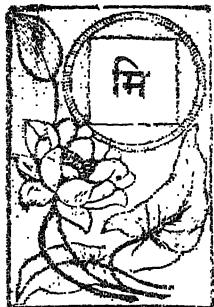
स्टर फ़िलिप एक भारतीय ईसाई थे। परन्तु अन्य भारतीय ईसाइयों में जो गुण पाए जाते हैं, वे उनमें प्रायः नहीं के समान थे। कहना चाहिए, उनमें और उनके दूसरे ईसाई-भाइयों में परस्पर बड़ा अन्तर था। घर में वे एक पवित्र हिन्दू के समान रहते थे। उनके कुटुम्ब की भी यही दशा थी। यह तो ज़रूर था कि उनकी पत्नी पर्दे के अन्दर न रहती थी, पर देखने से वह पवित्र हिन्दू-देवी के समान जान पड़ती थी। वही रहन-सहन, वही चाल-ढाल, वैसी ही बातें और आँखों में वही लज्जा! उसे देखने से ईसाई-रमणी की कल्पना भी न हो सकती थी। उनके बच्चे भी हिन्दुत्व के रङ्ग में रँगे हुए थे, अन्तर था केवल नाम का। अन्य ईसाइयों के घर में जिस प्रकार की स्वच्छता एवं पवित्रता पाई जाती है, मि० फ़िलिप के घर की स्वच्छता एवं पवित्रता उससे दूसरे प्रकार की थी, उसमें भारतीयता की पूरी

झलक पाई जाती थी। उस घर को कोई भी ईसाई-घर न कह सकता था।

मि० फिलिप के ऊपरी आचार-व्यवहार में ही हिन्दुत्व की झलक न थी, उनके अन्तरङ्ग में भी हिन्दुत्व का उज्ज्वल आलोक विराजमान था। वे एक सुशिक्षित ईसाई थे। जहाँ अन्य ईसाई बाइबिल पर निछावर होते फिरते हैं, ईसाई-धर्म पर बहस करते-करते उनकी जीभ नहीं थकती, वहाँ मि० फ़िलिप हिन्दू-धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते थे; हिन्दू-धर्म की बातें विशेषतया करते थे। जान पड़ता था, जैसे उन्हें अपने ईसाई-धर्म पर कुछ प्रेम है ही नहीं! ईसाई लोग उनकी इस प्रवृत्ति से रुष्ट रहते थे, कोई-कोई साहसी तो उन्हें फटकार भी देते थे। पर मि० फ़िलिप न तो उनकी रुष्टता की ही परवाह करते थे, न उनकी फटकार की ही। वे उसी तेजस्विता से उन्हें उत्तर देते—क्यों? क्या मैं सपरिवार हर इतवार को गिरजे नहीं जाता? और तल्लीन होकर प्रभु की उपासना नहीं करता? क्या मैं कभी बाइबिल का पाठ नहीं करता? फिर आप लोग किस मुँह से मुझपर ईसाई-धर्म पर प्रेम न करने का इलज़ाम लगाते हैं? क्या अन्य धर्म के ग्रन्थ पढ़ना, क्या अन्य धर्म की चर्चा करना भी अपराध है?

मि० फ़िलिप अपने पक्ष का समर्थन कुछ ऐसे ढङ्ग से करते थे कि विरोधियों की ज़बान बन्द हो जाती थी।

उन दिनों मि० फ़िलिप भवानीपुर में पुलिस के सब-इन्स्पेक्टर थे। मैं भी वहीं के हाईस्कूल में शिक्षक था, और मि० फ़िलिप के बच्चों को शिक्षा देने के लिए नित्य उनके घर जाया करता था। इस नित्य के आने-जाने से, उनसे मेरी मित्रता क्या, एक प्रकार की बड़ी ही घनिष्ठता हो गई थी। हम दोनों की ख़ूब बनती थी। फ़िलिप के आचार-व्यवहार से मुझे जितना ही कौतूहल होता था, उतना ही आनन्द भी। मेरे मन में बहुधा विचार उठा करते थे कि यह आदमी ईसाई होने पर भी क्यों हिन्दू-रङ्ग-ढङ्ग अख़्तियार किए है? हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन क्यों इतने आग्रह से करता है? पुलिस के आदमी जैसे चलते-पुर्ज़े होते हैं, यह वैसा क्यों नहीं है? इसकी वृत्तियाँ इतनी पवित्र क्यों हैं? उनकी तेजस्वी प्रकृति होने के कारण, उनसे इस विषय में पूछ-ताछ करने का साहस भी नहीं होता था। उनके हृदय की महत्ता का विचार करके मैं अपनी जिज्ञासा को मन में ही छुपा लेता था।

एक दिन की बात सुनिए—मैं मि० फ़िलिप के द्वार पर पहुँचा ही था कि भीतर से कुछ ईसाई निकले! मैं आँगन को पारकर बरान्दे में पहुँचा। देखा, तो मि० फ़िलिप एक आराम-कुर्सी पर लेटे थे। उनके मुखड़े पर खिन्नता और घृणा के भाव व्यक्त हो रहे थे। वे लेटे-लेटे मानों कुछ सोच रहे थे। मुझे यह समझने में देर न लगी कि

अभी-अभी उन ईसाइयों से इनका विवाद हो चुका है, और इनसे कोई धृष्टता कर बैठा है, इसी से ये खिन्न और क्रुद्ध हो उठे हैं। ऐसी हालत में मैंने चुप रहना ही ठीक समझा; यद्यपि हृदय उनकी खिन्नता का कारण जानने के लिए उद्विग्न हो रहा था। मैं धीरे-धीरे कुर्सी पर बैठ गया। परन्तु मेरे बैठते ही मि० फ़िलिप उस सन्नाटे को भङ्ग करते हुए बोले—आइए मास्टर साहब, बैठिए। क्षमा कीजिए, आज मैं आपका स्वागत न कर सका। ऐसे ही कुछ विचारों में लीन हो गया था। आपके आनें से, आपसे बातें करने में, मुझे बड़ा आनन्द मिलता है—मन को एक प्रकार की शान्ति मिलती है।

मैं—यह आपकी कृपा एवं प्रेम-भाव है। परन्तु आज आप खिन्न और उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं? जान पड़ता है, उन ईसाइयों से अभी-अभी आपकी गरमागरम बहस हो चुकी है।

फ़िलिप—आपका अनुमान ठीक है। जब देखो तब ये लोग मेरे पीछे पड़े रहते हैं। हज़ार बार कह दिया—बाबा, मैं ईसाई-धर्म पर प्रेम करता हूँ—सच्चा प्रेम करता हूँ। यदि प्रेम न करता होता, तो अपने प्यारे हिन्दू-धर्म को तिलाञ्जलि ही क्यों देता? हिन्दू-धर्म की पुस्तक शौक़िया पढ़ता हूँ, उनकी चर्चा भी शौक़िया करता हूँ। पर ये लोग मानते ही नहीं, कैसे बेहया हैं, कैसे कमीने हैं?

इतना कहकर उन्होंने घृणा की हँसी से हँस दिया। मुझे भी हँसी आ गई। मैंने भी व्यङ्ग-ध्वनि में कहा—तो इन्स्पेक्टर साहब, आप अभागे हिन्दू-धर्म पर क्यों प्यार करते हैं? क्यों अपने पीछे यह इल्लत लगाए रहते हैं? क्यों अपने समाज में कलह का बीज बोते हैं?

यह सुनते ही मि० फ़िलिप के मुखड़े पर गम्भीरता छा गई। कुछेक क्षण शान्त रहकर उन्होंने जवाब दिया—मास्टर साहब, मैं अपने समाज में कलह का बीज बो रहा हूँ, यह आपका ख़्याल बिलकुल ग़लत है! मैं सच्चा ईसाई हूँ—ईसाई-धर्म कलह करना कहाँ सिखाता है? हिन्दू-धर्म बहुत अभागा है, इसीलिए तो मैं उस पर प्यार करता हूँ और ईसाई-धर्म अभागियों पर ही प्यार करने का मधुर उपदेश देता है।

एक विधर्मी के मुँह से अपने प्यारे धर्म को अभागा कहते देख, मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ, अपना-अपना धर्म सभी को प्यारा होता है। मैंने कुछ अप्रसन्नता से कहा—आप-जैसे सज्जन को यह बात शोभा नहीं देती। हिन्दू-धर्म के विषय में ऐसा अपमानपूर्ण शब्द सुनने की मैंने कभी आपसे आशा न की थी! आख़िर आप हिन्दू-धर्म को 'अभागा' कहकर उसका अपमान क्यों करते हैं?

मि० फ़िलिप अट्टहास कर बोले—मास्टर साहब, आपने मेरा मतलब नहीं समझा! मैं हिन्दू-धर्म का अपमान

क्यों करूँगा ? मैं तो उस पर प्यार करता हूँ ; और जिस पर प्यार किया जाता है, उसका अपमान ही कैसे ? मैं मन ही मन हिन्दू-धर्म पर प्यार करता हूँ, क्योंकि वह मेरा पैतृक धर्म है ! उसी की छाया में हमारे पूर्वजों का शान्ति-मय जीवन व्यतीत हुआ था ! उसी के आश्रय में पलकर मैं भी इतना बड़ा हुआ हूँ ! परन्तु मैं उस पर प्यार करके भी प्यार नहीं कर सकता ! उस पवित्र प्यार को हृदय के एक कोने में छिपाकर रखना पड़ता है ! उसे पद-च्युत कर ईसाई-धर्म उसके पवित्र सिंहासन पर आ विराजा है ! हृदय में हिन्दू-धर्म का ज्योतिर्मय आलोक है ; हृदय में उसकी चाह है ; पर मैं उस आलोक की अर्चना नहीं कर पाता, चाह की मेरी वह हविस पूरी नहीं होती ! सामने उसका शीतल-सरोवर लहरा रहा है, पर मैं उसका एक बूँद भी नहीं पा सकता, यह कैसी ज्वालामयी परिस्थिति है ! हिन्दू-धर्म बहुत उम्दा है ; उसमें बड़ी ही शीतलता और शान्ति है, पर इससे क्या ? हिन्दू-समाज ने अपनी परिस्थिति ऐसी भीषण बना ली है, ऐसे-ऐसे कड़े नियम बना डाले हैं कि उस समाज में रहना और हिन्दू-धर्म का पालन कर लेना गोया तलवार की धार पर चल लेना है ।

मैंने कुछ जोश से कहा—आप ऐसी बातें करते हैं, जिन्हें समझ स्वीकार नहीं कर सकती ! आप हिन्दू-धर्म

का पालन करते थे, इसमें हिन्दू-समाज को क्या बुराई थी? जब आप हिन्दू-धर्म पर प्यार करते थे, तब आपने ईसाइयों की संख्या में वृद्धि ही क्यों की? इसमें तो मुझे सरासर आपकी ही भूल जान पड़ती है।

मि॰फ़िलिप ने उल्लासपूर्वक कहा—हो सकता है कि इसमें मेरी ही भूल हो, पर इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ कि स्वतन्त्रता-पूर्वक हिन्दू-धर्म का पालन करने में हिन्दू-समाज बुरा मानता है—बहुत बुरा मानता है। वह चाहता है कि हिन्दू-धर्म के नाम पर लोग अन्ध-परम्परा की रूढ़ियों के पीछे आँख मींचकर चलते रहें! इसमें यदि आपने ज़रा भी चूँ तक की तो आपकी ख़ैरियत नहीं। समाज आपको कान पकड़कर निकाल बाहर करेगा और आपके लिए हिन्दू-धर्म का दरवाज़ा सदा के लिए बन्द कर देगा। आप हिन्दू-धर्म पर कितना ही प्यार क्यों न करते हों, उसके पीछे जान भी देते हों, तो भी हिन्दू-समाज आपका मुँह देखने में पाप समझेगा। इसीलिए तो कहता हूँ कि हिन्दू-धर्म सुन्दर है, पर है अभागा—बड़ा ही अभागा। प्रमाण के लिए आप मेरी ही कथा सुनिए, और फिर निर्णय कीजिए कि मेरा कथन सत्य है या नहीं?

इसके बाद उन्होंने अपनी कथा सुनाना प्रारम्भ किया :—

"मैं सात पीढ़ी से ईसाई नहीं हूँ, मेरे पिता कुलीन

ब्राह्मण थे—ऐसे कुलीन थे, जिन्हें अपनी कुलीनता पर गर्व था। पर समाज ने अपने कठोर विधान की वेदी पर मेरा बलिदान कर दिया—बड़ी ही निर्ममता से मेरा बलिदान कर दिया। उसने मेरे संसार का प्रकाश छीन लिया। मैं जीवन के उस निराश-अन्धकार में विलाप करता हुआ भटकने लगा। पर मेरे विलाप को किसी ने न सुना, किसी ने मेरे दग्ध-हृदय को शीतल करने की चेष्टा न की। ऐसे भीषण समय में ईसाई-धर्म ने मेरी ओर ममता और सहानुभूति का हाथ बढ़ाया। मैं भी उसकी शरण में, ईश्वरेच्छा पर भरोसा करके; चला गया और उस भीषण दुख का भार सर्वांश में न सही, अल्पांश में कम अवश्य हो गया।

जिन दिनों पिता जी का देहान्त हुआ, मेरी आयु आठ-नौ बरस से अधिक न थी। वे कुलीन अवश्य थे, पर थे निर्धन। घर में कुछ जायदाद न थी। ऐसे भीषण समय में समाज ने हमारी कुछ भी सहायता न की। घर में जो कुछ था, उससे मेरी अनाथ माता ने पिता जी की दिन-तेरहीं की। जाति-बिरादरी के लोग स्वादिष्ट भोजन पा, मूँछों पर ताव देते हुए अपने-अपने घर को चले गए। उस दिन से फिर किसी ने हमारी ख़बर न ली। हम पर क्या बीत रही है, हम भूखे-प्यासे मरते हैं या गुलछर्रें उड़ाते हैं, इससे समाज को क्या मतलब? घर में

मैं था और मेरी माता जी थीं। हम पर किसी का रक्षक हाथ न था, न कोई हमारी ख़बर ही लेने वाला था; ऊपर से घर में दरिद्रता अखण्ड-राज कर रही थी।

माता जी को चारों ओर निराशा दीखती थी। उस दुख के घने अन्धकार में उन्हें कुछ सूझ ही न पड़ता था, रोते-रोते उनका दिन बीत जाता था। कुशल इतनी ही थी कि घर में हम माँ-बेटे के सिवा तीसरा प्राणी न था। यदि और दो-एक बच्चे होते तो भगवान् जाने, हमारी क्या दशा होती? ख़ैर, दिन-तेरहीं से जो कुछ बचा था, उससे कुछ दिन तक हमारी भूख की ज्वाला शान्त होती रही। जब कुछ न बचा, तब माता जी ने थाली-लोटा बेचकर खुद भूखी रहकर मुझे खिलाया। पर इस तरह कितने दिन काम चलता? अन्त में फ़ाक़ेकशी पर नौबत आ पहुँची!

माता का हृदय कैसा ममता से भरा होता है। पुत्र पर उसका वरद-हस्त जगन्माता के आशीर्वाद के समान सुख की छाया किए रहता है! पुत्र के मुख की मलिनता उसके कोमल हृदय पर सौ-सौ बिच्छुओं के दंशन के समान पीड़ा उत्पन्न कर देती है। पुत्र को दुखी देखते ही उसके प्राण उलट-पुलट हो जाते हैं। पुत्र के सुख के लिए अपने प्राणों को भी वह हँसते-हँसते उत्सर्ग कर देती है। पिता का अभाव माता का दूना प्रेम कितना कम कर देता

है। अब माता जी के लिए संसार में किस सुख की लालसा रह गई थी, उनके जीवन-प्राण मुरझाए रहते थे। उनकी सारी आशाओं का, सारे सुखों का, केन्द्र मैं ही हो रहा था। मुझे देखकर ही वे अपने शोकावेग की गति को कुण्ठित कर देती थीं। वे कितना कष्ट सहकर भी मुझे सुखी करना चाहती थीं, मुझे दुखी देखते ही उनके प्राण जैसे हाहाकार कर उठते थे, कैसी सान्त्वना पहुँचाने वाली बातें करती थीं। पर उनकी इच्छा पूर्ण न हो पाती थी। उस निर्धन और अनाथ विधवा माता के पास मुझे सुखी करने के लिए एकान्त प्रेम के सिवा रखा ही क्या था? उसी पवित्र प्रेम-धारा में मेरी जीवन-नौका धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी।

जब घर में फूटी कौड़ी भी शेष न रही, भूखों मरने की नौबत आ पहुँची, तब माता जी ने मेरे लिए आपद्धर्म स्वीकार किया। उन्होंने मिहनत-मज़दूरी के लिए कमर कसी। उन्होंने पुरा-पड़ोस की स्त्रियों से मेल बढ़ाया और फिर उन्हीं की कृपा से माता जी को काम मिलने लगा। मास्टर साहब, सच मानिए, उन दिनों माता जी की दशा सड़क पर मज़दूरी करने वाली स्त्रियों से भी गई-बीती हो रही थी। वे दिनभर अपनी शक्ति से भी ज़्यादा काम करती थीं। दिनभर में बीस-बीस सेर से भी अधिक गेहूँ पीसती थीं! और स्त्रियाँ पीसते समय गाया करती हैं, पर मेरी माता की आँखों से उस समय आँसुओं की धारा बहा

करती थी। इतनी यातना सहकर भी, इतना घोर परिश्रम करके भी, हम लोग भरपेट भोजन न पाते थे। माता जी की आज्ञा से मैं भी अमावस-पूनों को भिक्षा माँगने निकल जाया करता था। भला हो ग़रीब आदमियों का, वे मेरी झोली में मुट्ठीभर आटा तो डाल देते थे, पर भले आदमियों की क्या कहें, उनके यहाँ मुट्ठीभर आटे के बदले मनभर तिरस्कार प्राप्त होता था। इस प्रकार भीषण यातनाओं, पेट की पीड़ा और तिरस्कार की लहरों के थपेड़े खाती हुई हमारी वह टूटी-फूटी जीवन-नौका बड़े ही कष्ट से आगे बढ़ने लगी।

जिसके पास एक फूटी कौड़ी भी न हो, उसे एक पैसा भारी होता है। खोजने से मुझे तीन रुपए की नौकरी मिल गई। ऐसी भारी नौकरी मिलने की बात सुनते ही मैं मारे ख़ुशी के नाच उठा। माता जी भी आनन्द में विभोर हो उठीं। जिस दिन से पिता जी का देहान्त हुआ था, उस दिन से मैंने कभी माता जी के मुखड़े पर प्रसन्नता की छाया न देखी थी। आज पहला दिन था, जब उनके चेहरे पर प्रसन्नता आई थी। पर तो भी उस क्षीण, परन्तु प्रसन्न मुखड़े के अन्दर धँसी हुई आँखें डबडबा रही थीं। आज उनकी मुरझाई हुई आशा-लता डहडहा उठी थी। उन्होंने मुझे गोद में लेकर प्यार किया, मेरा मुँह चूमा। मुझे सावधानी से काम करने का प्रेममय उपदेश या आदेश दिया।

मैं नौकरी पर जाने लगा। दूकान कपड़े की थी। स्वामी एक बूढ़े ब्राह्मण थे। उनके मुरझाए हुए मुखड़े पर वह वात्सल्य एवं प्रेम-भाव न था, जो बहुधा बूढ़ों में पाया जाता है। उसके स्थान में एक प्रकार की शुष्कता एवं कठोरता झलकती थी। उनकी आँखों से स्वार्थपरता की ज्योति निकल रही थी, बोली में उग्रता और सत्ता भरी हुई थी। उन्हें देखते ही मैं भयभीत हो गया। जी में तो आया कि नौकरी से नाहीं कर दूँ, पर पापी पेट की फटकार ने धर दबाया। मुझे बड़े सबेरे से नौकरी पर जाना पड़ता था और रात के दस-ग्यारह बजे तक आराम करने की फ़ुरसत न मिलती थी। मालिक दोपहर में केवल भोजन करने के लिए एक घण्टे की छुट्टी देते थे। दूकान खूब चलती थी, मुझे थोड़ा भी सुस्ताने की फ़ुरसत न मिलती थी, दिनभर थान उठाते-धरते मेरे हाथ-पैर रह जाते थे। ऊपर से मालिक की सख़्ती और भी बेचैन कर देती थी। उनका स्वभाव बड़ा ही उग्र, कठोर और निर्मम था। वे बात-बात में मनमानी गालियाँ बकते थे! थान ढूँढ़ने या रखने में ज़रा देर हुई कि बूढ़े ने बकना शुरू किया। शुरू-शुरू में तो मुझे उनकी गालियाँ असह्य मालूम हुईं, पर पेट के पीछे सभी सहना पड़ता है। धीरे-धीरे मैं अपना सारा स्वाभिमान खो बैठा, अपमान सहने का आदी हो गया। उफ़! छः पैसे में मैं दिनभर किस कड़ाचूर मिहनत

से उसका कितना काम करता था! मेरे हाथ-पैर मैशीन के समान काम करते थे, पर जब देखो, वह बूढ़ा मेरी ओर उन्हीं अग्निमय आँखों से देखता था। मारे दुख के मेरी आँखें भर आतीं, पर बहने के पहले ही हृदय की भीषण ज्वाला उन्हें शुष्क कर देती थी।

इस तरह उस बूढ़े के यहाँ काम करते-करते दो बरस बीत गए। इसके बाद सहसा एक दिन माता जी को बुख़ार आ गया। वे कई दिन तक बीमार रहीं। मैं दूकान पर जल्दी से जल्दी पहुँचने की कोशिश करता था, पर थोड़ी-बहुत देर हो ही जाती थी। इस पर बूढ़ा काले नाग की तरह फुँफकारता था। एक दिन दवा का प्रबन्ध करने में मुझे कुछ देर हो गई। जब दूकान पर पहुँचा, तब बूढ़े ने बिगड़कर मुझे जवाब दे दिया। उसे मेरी दशा मालूम थी, मैंने उससे गिड़गिड़ा कर कितनी ही विनती की, पर वह परशुराम का अवतार तनिक भी न पिघला। लाचार हो, मैं घर लौट आया। उस समय नौकरी जाने का न मुझे हर्ष था, न दुख। चित्त में एक प्रकार की शान्ति-सी छाई थी।

ख़ैर, नौकरी छूट जाने से जो थोड़ा-सा कष्टमय सहारा था, वह भी जाता रहा। अब मैं फिर, मुँह उठाए इधर-उधर फिरने लगा। जीवन-यात्रा दिन-दिन विषम होती गई और साथ ही पेट की ज्वाला भी अधिकाधिक ज्वालामयी होती

गई। दूसरों की मज़दूरी करके, भिक्षा माँगकर और तिरस्कार सहकर जैसे-तैसे दो बरस और बीते, और जब कहीं भी जीविका का साधन प्राप्त न हुआ, तब एक पुलिस-कान्सटेबिल की सम्मति से मैं पुलिस में भरती हो गया। अब एक प्रकार से हमारे दिन फिर गए। माता जी की मज़दूरी का वह क्रम जारी ही था, और मैं भी अब दूसरों को आँखें दिखाकर अपनी रोटी आप कमाने लगा। उधर माता जी का भार भी हलका हो गया था, इधर मैं भी तनख़्वाह पाने लगा था।

जिसके दिन सदा दुख में ही बीते हों, जो एक-एक दाने को तरसा हो, उसे इतना-सा सुख मिल जाना, राज्य पाने के समान आनन्ददायी हो और वह दूसरों के सामने छाती फुलाकर चलने लगे, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। यद्यपि मैं अब अपनी रोटी आप कमाने लगा था, तो भी जाति-बिरादरी में मेरा वही पद था। वे अब भी मुझे वैसा ही अपात्र और तिरस्करणीय समझते थे। जाति वाले पहले मुझे इसलिए तिरस्करणीय समझते थे कि मैं सदा उनके आगे हाथ फैलाया करता था, और अब इसलिए समझते थे कि मैंने उनके आगे वह दीन हाथ फैलाना बन्द कर दिया था। यदि मैं किसी से कृतज्ञतापूर्वक बातें भी करता, तो वह उसी घृणित दृष्टि से मेरी ओर देखता, उसके मुखड़े पर विरक्ति छा जाती। समाज को अपने

छोटे से व्यक्ति का थोड़ा-सा उत्कर्ष भी कैसा खलता है ! समाज ने अपनी वह उपेक्षामयी नज़रें दिखाकर मुझे अपने से दूर कर दिया । मैं अब उसका वह घृणित अत्याचार न सह सका । उसके प्रति मेरे हृदय में भी घृणा और उपेक्षा के भाव स्थान करने लगे । धीरे-धीरे मैंने भी जाति-बिरादरी वालों से मिलना-जुलना बन्द कर दिया । थोड़े समय के बाद मेरे ऊपर एक और वज्रपात हुआ—मैं मातृ-सुख से वञ्चित हो गया ।

कितने ही महीनों के बाद एक बार सरकारी काम से मुझे देहात जाना पड़ा । मैं एक बड़े से गाँव में पहुँचा । चूँकि मैं कुलीन ब्राह्मण का बेटा था, इसलिए यहाँ-वहाँ ठहर जाना मेरे लिए ज़रा कठिन था । लोगों ने मुझे एक दीन ब्राह्मणी के यहाँ ठहरा दिया । पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि वह मेरी ही जाति की है, और उससे मेरा बहुत दूर का कुछ रिश्ता भी है । बेचारी ब्राह्मणी ने अपनी हैसियत के अनुसार मेरी पहुनाई भली-भाँति की । उसके आदर-सत्कार से मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ । ब्राह्मणी की उमर ढल गई थी । वह विधवा थी । उसके घर में केवल दो ही प्राणी थे—वह स्वयं और उसकी नवयुवती बेटी । बेचारी अनाथ थी, उसकी रक्षा करने वाला कोई न था । हमारी ही भाँति समाज उसे भी भुला बैठा था । घर में बेचारी माँ-बेटी रहतीं और किसी प्रकार मिहनत-मज़दूरी

तथा भिक्षा-वृत्ति से अपना पेट पालती थीं। उनकी हालत बहुत ही गई-बीती थी। उनकी वह दीनावस्था देख, मुझे अपने बीते हुए दिनों की याद हो आई, और मुझे उन पर बड़ी ही दया आई।

ब्राह्मणी से पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि उसकी युवती बेटी भी विधवा है। जब वह दस-ग्यारह वर्ष की ही थी, तभी उसका विवाह एक श्री-सम्पन्न वृद्ध सज्जन के साथ हो गया था। परन्तु विवाह के तीसरे बरस ही, जब बालिका यौवनावस्था में प्रवेश कर रही थी, वृद्ध सज्जन उसके भाग्य को तोड़-फोड़कर स्वर्ग-लोक को चले गए। उनके मरने के थोड़े दिन बाद ही, उनके सुपुत्रों की साध्वी बहुओं ने अपनी बालिका-सास को मार-पीटकर घर से बाहर निकाल दिया। तब से वहाँ वालों ने उसकी कोई ख़बर नहीं ली। उनको कई पत्र भी लिखे गए, कई बार सन्देशे भी भेजे गए, पर उन्होंने एक बार भी उत्तर देने की कृपा नहीं की। तब से वह युवती मायके में ही रहती है। बेटी के विवाह के बाद ही उसके बूढ़े पिता माँ-बेटी को मँझधार में छोड़, चारों ओर से निराश्रय कर, परलोक-वासी हो गए। बेटी के वृद्ध-पति से, बेटी के मूल्य-स्वरूप जो धन मिला था, उसका उपभोग करने के पहले ही बूढ़े बाबा मानो कन्या-विक्रय के भयङ्कर पाप का दण्ड भोगने के लिए यमराज के दरबार में चले गए। उस दिन से माँ-

बेटी ने कुछ दिन तक अपने दिन काटे, पर उसके शेष हो जाने पर अब मिहनत-मज़दूरी, भिक्षा-वृत्ति और फ़ाक़े-कशी पर नौबत आ गई है। ब्राह्मणी को बेटी की बड़ी चिन्ता है। बेटी जवान है, इसने संसार का कुछ सुख देखा नहीं, मैं चार दिन का पाहुनो हूँ, मेरे बाद इसकी फ़िकर कौन करेगा, इसके दिन किस तरह बीतेंगे, इसका आचरण कैसा रहेगा—इसी चिन्ता में ब्राह्मणी दिन-दिन तिल-तिल करके घुली जा रही है।

उस समय ब्राह्मणी की बेटी की आयु लगभग अठारह-उन्नीस बरस की रही होगी। उसके अङ्ग-अङ्ग से यौवन की ज्योति फूटी पड़ती थी। उसकी आँखें यौवन-मद से टपकी पड़ती थीं। उनमें उद्दाम-वासना नृत्य कर रही थी। उनकी चञ्चल नज़रें मानों अपने में किसी को छिपा लेना चाहती थीं। उसके कोमल अधर-पल्लव मानों प्रेम-पिपासा के लिए आकुल हो रहे थे। उसकी मृणाल-जैसी सुन्दर भुजाएँ, मानों किसी से लिपटने के लिए विह्वल-सी हो रही थीं। उसकी चाल बड़ी ही मदमाती थी। उसकी बातों से मानों रस की वर्षा होती थी। उसकी सुन्दरता तो कुछ विशेष बढ़ी-चढ़ी न थी, पर उसके मुखड़े पर कुछ ऐसा आकर्षण था, उस पर कुछ ऐसी लुनाई और मोहकता थी कि मैं उस पर मोहित हो गया, उसे अपना हृदय दे बैठा।

मैं उसी दिन से उस रमणी को अपनाने की चेष्टा

करने लगा। धीरे-धीरे मैं उस गाँव को कभी सरकारी काम से और कभी छुट्टी लेकर जाने लगा। मैं उसी ब्राह्मणी के यहाँ ठहरता था। उसकी दुख-दर्द भरी बातें बड़े ध्यान से सुनता था। अपनी दुख-कथा सुनाकर उसे कितनी ही सान्त्वना देता था। इस व्यवहार से वह ब्राह्मणी मुझे प्रेम और विश्वास की दृष्टि से देखने लगी। मैं धीरे-धीरे उसकी बेटी से भी रब्त-ज़ब्त बढ़ाता जाता था। मैं अपने यत्न में सफल हुआ और मुझे उसका प्रेम प्राप्त हो गया। तब मैंने ब्राह्मणी को अपना मतलब कह सुनाया। मेरी बात सुनते ही पहले तो वह चौंकी और बोली—बेटा, यह क्या कहते हो? जाति-बिरादारी वाले, पुरा-पड़ोस वाले सुनेंगे तो क्या कहेंगे? चारों ओर हमारा नाम बदनाम हो जायगा! बेटी का तो धर्म जायगा ही, उसके दोनों कुलों में भी दाग़ लग जायगा।

उसकी ये अज्ञानतामयी बातें सुनकर मुझे हँसी आ-गई। मैंने उससे कहा—माँ, आगे-पीछे की बातें सोचो। मुझे ही देखो, मैंने कितनी मुसीबतें झेलीं, पर जाति-बिरादरी वाले कभी पसीजे भी? उनके आगे जितना गिड़-गिड़ाया, उतना ही उन्होंने तिरस्कार किया। अब अपनी ओर देखो, आप लोग कितने दिन से ये मुसीबत के दिन देख रही हैं, पर जाति-बिरादरी वालों ने कभी आपकी ख़बर भी ली? कभी कोई इस दीन-द्वार पर सहानुभूति

की दो बातें करने आया भी ? तब यह आशा कैसे की जा सकती है कि आगे आपकी करुण-दशा जाति के वज्र-हृदय को मोम बना देगी ? और भी सोचो ; अभी आप जीवित हैं ; किसी प्रकार अपनी बेटी की रक्षा किए जाती हैं। पर आप सदा तो जीवित रहेंगी ही नहीं, फिर कौन उसकी रक्षा करेगा ? भगवान् जाने, उसके भाग्य में अभी क्या बदा है और भविष्य में उसकी क्या स्थिति होगी ? सो यह झूठी लज्जा और मान-मर्यादा का ख़्याल दिल से निकाल डालिए। यदि आप मेरी बात मान लेंगी, तो मैं आपकी सेवा-शुश्रूषा करूँगा और वर्त्तमान तथा भविष्य में आपकी बेटी निराधार तो न रहेगी। सोचिए, भविष्य के उस भीषण पतन से यह व्यवस्था आपकी बेटी के लिए हितकर होगी या नहीं ?

बहुत समझाने-बुझाने से ब्राह्मणी राज़ी हो गई और उसकी बेटी को तो मैं पहले ही राज़ी कर चुका था। अब किसी प्रकार की बाधा न रही। एक दिन सुन्दर सन्ध्या को मैं माँ-बेटी को अपने घर ले आया। मेरे घर में सुख का प्रकाश हो गया। यह कार्य समाज की दृष्टि में चाहे जैसा रहा हो, पर मेरी दृष्टि में तो बहुत ही बेहतर था। मैंने प्रेममयी पत्नी और सुख-शान्तिमयी गृहलक्ष्मी पा ली थी। और मुझे इससे सन्तोष भी पूर्णतया हुआ था। परन्तु उसी दिन से मेरा जीवन एक नवीन उलट-फेर में

पड़ गया और क्रमशः मैं समाज से अपने सारे बन्धन तोड़, प्यारे हिन्दू-धर्म से मुँह मोड़, महात्मा ईसा की शरण लेने को बाध्य किया गया।

परन्तु समाज को किसी के सुख-दुख से क्या मतलब, उसे तो अपनी अन्ध-परम्परा से प्रचलित कुरीतियों की रक्षा करने की ही विशेष चिन्ता व्यग्र किए रहती है। अस्तु, एक बार बिरादरी में कोई कार्य पड़ा। पञ्चों ने बड़ी दया करके मुझे भी बुलाया। मुखिया महोदय मुझसे बोले—तुम्हारी करतूत अब किसी से छिपी नहीं है, बोलो! अब तुम्हारी क्या इच्छा है—बिरादरी में रहना चाहते हो या नहीं?

मैंने नम्रतापूर्वक कहा—महाराज, बिरादरी का त्याग करके किसका चलाव चल सकता है? बिरादरी में न रहूँगा, तो कहाँ जाऊँगा?

तब तो मुखिया जी प्रसन्न होकर बोले—अच्छी बात है, तब तुम्हें बिरादरी की बात माननी पड़ेगी, उन लोगों को घर से निकाल दो और बिरादरी तुम्हें जो दण्ड दे, उसे स्वीकार करो।

मुझसे बिरादरी के सम्पन्न घरों का भेद छिपा न था। अभी थोड़े ही दिन पहले एक महाशय की विधवा बेटी लगभग एक माह तक ग़ायब रहकर पुनः घर में लौटी थी, दूसरे महाशय की विधवा पुत्र-वधू गर्भ गिरा चुकी थी। परन्तु

बिरादरी वाले उनसे कुछ न कहते थे, और मुझ दीन पर उनकी यह कृपा-दृष्टि थी। मुखिया महोदय की आज्ञा से खिन्न होकर मैंने उनसे निवेदन किया—महाशय, आपसे दूसरे घरों की बातें छिपी नहीं हैं, उन पर कुछ दण्ड नहीं किया जाता ? मुझ दीन पर ही आप लोगों की कोप-दृष्टि क्यों है ? मैंने कोई ऐसा भीषण पाप किया नहीं, गुप्त व्यभिचार भी नहीं किया ; जो कुछ किया है, खुले-ख़ज़ाने किया है। जाति की एक विधवा से अपना घर ही बसा लिया है न ? यदि मैं उसे घर में न रखता, तो आपकी जाति की रमणी को दूसरी जाति वाले छीन ले जाते। क्या खुले-ख़ज़ाने ऐसा करना, क्या जाति की स्त्री को जाति में ही रख लेना—भ्रूण-हत्या से भी भीषण पाप है ? मैं उन लोगों को घर-बाहर करने से तो रहा, रही दण्ड की बात, यदि आप दण्ड लेना स्वीकार करें, तो आज्ञा दें।

मेरी बातों से पञ्चों में खलबली मच गई। लोग बहुत बिगड़े। कोई बोला—'यह तो बड़ा ही पापी और निर्लज्ज है।' किसी ने कहा—'इसने जाति का माथा नीचा कर दिया।' किसी ने फ़रमाया—'इसे तो एकदम जाति-च्युत ही कर देना चाहिए।' परन्तु मैं अबोध शिशु के समान बैठा-बैठा उनकी ये गालियाँ सुनता रहा। कुछ देर के बाद मुखिया जी बोले—अच्छा, उन लोगों को न निकालो। अब दण्ड की बात सुनो। १०१) ठाकुर जी के मन्दिर में

पुण्य करो और बिरादरी वालों को चार पक्की पङ्गतें दो ; प्रयाग जाकर गङ्गा-स्नान करो। इससे बिरादरी में तुम तो खुलासा रहोगे, पर तुम्हारे घर के लोगों का चलाव हमारी बिरादरी में न हो सकेगा। हाँ, यदि उन्हें घर से निकाल दो, तो हम थोड़ा-सा ही दण्ड लेकर सन्तोष कर लेंगे।

दण्ड की यह आज्ञा सुनकर मैं चकरा गया। मैंने उनसे बिनती की—महाराज, मेरा सामर्थ्य देखकर दण्डाज्ञा कीजिए। मैं एक दीन आदमी हूँ, मेरे पास कहाँ इतना द्रव्य है कि मैं इतना भार वहन कर सकूँ।

मुखिया जी कुटिल मुस्कराहट से बोले—तो हम आपको कब मनाते हैं, आप चोखे और हम खोटे, बस हम आजसे आपके साथ नहीं बैठ सकते। आपकी राह दूसरी और हमारी दूसरी।

बिरादरी वाले तो पहले से ही मुखिया जी की बात का समर्थन कर रहे थे। न्याय का यह भयङ्कर अभिनय देखकर मेरा हृदय बैठ गया। मैंने पञ्चों से कितनी ही प्रार्थनाएँ कीं, पर वहाँ तो सभी एक स्वर में बोल रहे थे। ग़रीब पर अत्याचार करने में समाज कितना उत्साह दिखलाता है। परन्तु उसके इस उत्साह ने मेरे हृदय में उसके प्रति भीषण घृणा—अमिट घृणा उत्पन्न कर दी। हमारे और समाज के बीच में अब तक जो आशा-तन्तु था, आज

वह भी खण्डित हो गया। मैं समाज के प्रति घृणा और प्रतिहिंसा के भाव लेकर घर लौट आया। पञ्चों के इस फ़ैसले ने हमारे घर को कई दिन के लिए अशान्ति का आवास बना दिया। इस घटना से सास जी तो रञ्ज के मारे पागल ही हो गईं। वे ऐसी बीमार हुईं कि फिर न बच सकीं!

हाँ, एक बात कहने से तो रह ही गई। हिन्दू-समाज बहुधा ऐसे कार्यों से बहुत चिढ़ता है। जब से मैंने यह विधवा-विवाह किया था, मेरे साथ वाले अन्य हिन्दू-सिपाही भी मुझे हिक़ारत की नज़रों से देखने लगे थे। कई सज्जन तो कभी-कभी मीठी चुटकियाँ लेने का भी जी कर बैठते थे। जब उन्होंने पञ्चों का उक्त फ़ैसला सुना, तब सहानुभूति की अपेक्षा उन्होंने निन्दा-स्तुति का ही आश्रय लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं ब्राह्मण-समाज को ही नहीं, निखिल हिन्दू-समाज को घृणा के भाव से देखने लगा। हिन्दू-समाज के प्रति मेरे हृदय में थोड़ी भी हमदर्दी न रह गई, थोड़ा भी प्रेम न रह गया। मेरे हृदय में उसी दिन यह भाव उत्पन्न हो गया कि हिन्दू-धर्म लाख अच्छा हो, लाख दर्जे उसमें उदार भाव हों, पर उसका पालन करते हुए, हिन्दू-समाज की शरण गहे रहना मेरे लिए कष्ट-साध्य है। सङ्कल्प ही तो उत्थान और पतन का हेतु है।

उन दिनों उस पुलिस-स्टेशन के प्रधान अधिकारी एक ईसाई-इन्स्पेक्टर थे। ईसाई लोग अपने धर्म-प्रचार के अवसर की ताक में रहते ही हैं और अवसर मिलने पर उसका सदुपयोग करने में चूकना नहीं जानते। इन्स्पेक्टर साहब से भी मेरी स्थिति छिपी न रही। ईसाइयों की संख्या-वृद्धि करने का यह पुण्यमय अवसर वे क्यों छोड़ते? धीरे-धीरे मैं उनका प्रेम-पात्र हो चला, दिन-दिन मुझ पर उनकी कृपा-दृष्टि होती गई। वे क्रमशः मुझे ईसाई-धर्म की महत्ता समझाने लगे। वे मुझसे ईसाई-समाज के विषय में बहुधा कहा करते थे—देखो, ईसाई-समाज का सङ्गठन कैसा श्रेष्ठ है! हमारे समाज का द्वार संसार-भर के लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण की तो बात ही क्या, मेहतर और बसोर भी हमारे समाज में आकर शामिल हो सकते हैं। हमारे समाज में आते ही वे अछूत पवित्र हो जाते हैं। हमारे समाज के सभी व्यक्ति एक साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं, गिरजे में जाकर सभी—क्या अमीर और क्या ग़रीब, एक साथ प्रेम-भाव से प्रभु की उपासना कर सकते हैं। यह कितना बड़ा अधिकार है? हमारा समाज दीन-दुखियों के लिए दीनबन्धु है। हम अनाथों को भोजन देते हैं, उनकी शिक्षा का सुप्रबन्ध करते हैं, उनके विवाह करते हैं और अन्त में उनकी जीविका के साधन भी जुटा देते हैं। एक तुम्हारा समाज है, उसमें छुआछूत का कितना

दौरदौरा है। छुआछूत का यह भूत प्रभू के मन्दिर में भी अधिकार जमा बैठा है। और तुम्हारा समाज दीन-अनाथों के लिए कैसा सुप्रबन्ध करता है, उसके उदाहरण तुम आप हो! इतने पर भी भले रास्ते पर चलने वालों को तुम्हारा समाज कितनी निर्दयता से जाति-च्युत कर देता है। तुमने एक विधवा की रक्षा की है, क्या यह ऐसा पाप था, जिससे तुम जाति-च्युत कर दिए जाते? भाई, ऐसे समाज से तुम चाहे जैसा नाता रक्खो, मैं तो उससे प्रेम नहीं कर सकता।

इन्स्पेक्टर साहब स्वयं भारतीय ईसाई थे और मैं समाज से च्युत एक त्रसित व्यक्ति था। वे मुझसे प्रेम करते थे, मेरे दग्ध-हृदय को उनकी ऐसी बातों से बड़ी शान्ति मिलती थी। उनकी बातों का उत्तर मुझे क्या सूझता, मेरे हृदय में तो ईसाई-समाज पर श्रद्धा के भाव उत्पन्न हो रहे थे। अनुकूल भूमि तैयार देख, इन्स्पेक्टर साहब उसमें प्रलोभन का बीज बोने लगे। ईसाई-धर्म तथा समाज पर मेरी बढ़ती हुई श्रद्धा देख, इन्स्पेक्टर साहब मुझे भी बपतिस्मा लेने के लिए उत्साहित करने लगे। उन्होंने मुझे समझाया कि यदि मैं ईसाई हो जाऊँगा, तो मुझे भीषण सामाजिक दुरवस्थाओं से मुक़ाबला न करना पड़ेगा। प्रभु ईसा की शरण लेने से मैं मुक्ति का अधिकारी हो जाऊँगा, स्वयं प्रभु मुझ पर प्यार करेंगे। सरकार भी मुझ पर प्यार

करेगी, पद-वृद्धि की भी आशा रहेगी और जो हिन्दू आज मुझसे घृणा करते हैं, कल वही मुझसे हाथ मिलाने में अपना सौभाग्य समझेंगे। हाँ, समाज में मेरे बच्चों की उच्च और सुशिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध रहेगा। मैं समाज-त्यक्त दीन और आकुल हृदय व्यक्ति इन प्रलोभनों की अव-हेलना कैसे कर सकता था? जिस धर्म का अनुयायी होने के कारण मेरी छाया भी अपवित्र हो रही थी, इतने प्रलो-भनों के सामने रहते अब उसका पालन करना मेरे लिए असम्भव हो रहा था। बस, एक दिन मैं सपरिवार बपति-स्मा ले, प्रभु ईसा की शरण में पहुँच गया!

उसी दिन से मेरी मान-मर्यादा और की और हो गई। अभी तक मैं जिनका था, वे मेरा अपमान करते थे और जब मैं उनका न रहा—पराया हो गया, तो वे ही मेरा सम्मान करने लगे। मेरी बिरादरी की पण्डित-मण्डली, जिससे अब तक मैं डरता था, अब वही मुझसे डरने लगी। पण्डित लोगों ने अब मुझ पर फ़ब्तियाँ कसना छोड़ दिया। यद्यपि मेरे प्रति उस आतङ्क में घृणा का भाव अवश्य था; पर यह भी सच है कि वे महाशय अब मुझसे मुँह लगकर बातें करते दहलते थे। ज़रा हिन्दू-समाज के इस गुण पर ग़ौर तो कीजिए—इसे कमीनेपन के सिवा और क्या कहा जाय? ख़ैर, जब मैं हिन्दू ही नहीं रहा, तब मुझे उसके कमीनेपन से क्या लेना-देना?

ईसाई-इन्स्पेक्टर साहब की छत्र-छाया में मैं अब फूलने-फलने लगा। ईसाई होने के छः महीने बाद ही मैं हेड कॉन्सटेबिल बनाया गया। अब नगर में मैं भी एक ऑफ़ीसर समझा जाने लगा। वे ही घृणा की आँखें अब और भी बदल गईं, उनमें अब मेरे प्रति सम्मान की भावनाएँ झलकने लगीं। अब भाग्य-विडम्बना की एक बात और कहकर मैं अपनी कथा समाप्त करूँगा। वे ही मुखिया महोदय, जिन्होंने एक दिन सत्ता-स्वर में मुझे जाति-च्युत करने की आज्ञा प्रदान की थी, एक बार हमारे चङ्गुल में आ फँसे। उनके सपूत वेश्या-प्रेमी थे। उन्होंने एक दिन अपनी प्रेमिका के यहाँ, उसके एक दूसरे प्रेमी का सिर फोड़ डाला। मामला पुलिस में आया, इन्स्पेक्टर साहब ने मुझे उस सपूत को गिरफ़्तार करने की आज्ञा दी। मैंने नीली वर्दी से सुसज्जित होकर चार सिपाहियों के साथ मुखिया जी के दुर्ग पर यमराज के समान धावा बोल दिया। मुझे देखते ही मुखिया जी पीपल के पत्ते के समान थर-थर काँपने लगे। वे मेरे पैरों पर गिर पड़े और गिड़गिड़ाकर बोले—हवलदार साहब, आप तो घर के आदमी हैं। मेरी रक्षा कीजिए, मेरी लज्जा आपके हाथ में है।

उस नारकीय जीव की इन बातों से मेरी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उस दिन का सारा दृश्य मेरे दिमाग़ में एकबारगी घूम गया। उफ़! उस दिन कुलीनता की सनक में इसने मेरे

साथ कैसी निष्ठुरता की थी, मैंने इससे कितनी करुण-प्रार्थना की थी, पर इसका पत्थर का हृदय तनिक भी न पसीजा था। आज यह मेरे पैरों पर गिरता है, इसकी वह कुलीनता की सनक कहाँ गई? इसकी वह न्याय-प्रियता कहाँ है? मनुष्य स्वार्थ का कीड़ा है। क्रोधावेश में मैंने उसे बूट की एक ठोकर जमा दी और कहा—अबे, कमीन कुत्ते! आज मैं तेरे घर का आदमी हूँ! तेरा यह सपूत क्या मुझसे भी बढ़कर सदाचारी और कुलीन है?

मैं उसके बेटे को गिरफ़्तार कर पुलिस-स्टेशन में ले आया। उस पर मुक़दमा चला और उसे सज़ा दी गई। अस्तु—

उन्नति करते-करते आज मैं भी इन्स्पेक्टर हो गया हूँ। मेरा जीवन आनन्दमय है। घर में बच्चे हैं, साध्वी पत्नी है। वही विधवा, जो एक दिन पथ-भ्रष्ट होकर पतित हो जाती, आज अनुकूल परिस्थिति पा जाने से गृहलक्ष्मी के गौरवमय आसन पर आसीन हो रही है। उसके सुशील, सदाचारी और सेवामय जीवन ने मेरे जीवन को सुख-शान्तिमय बना रक्खा है। मेरी दृष्टि में तो वह सती-साध्वी से कम नहीं है। स्त्री का पतिव्रता और सदाचारिणी होना केवल परिस्थिति पर निर्भर है। यद्यपि ईसाइयों की धर्मान्धता से मैं ऊब गया हूँ, पर वास्तव में मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। यहाँ सभी पराए हमारे अपने हैं।

यदि कल मुझ पर कोई आपत्ति आ पड़े, तो मेरे सभी ईसाई-भाई मेरा साथ देंगे। यदि मैं मर भी जाऊँ, तो मेरे अनाथ बच्चे सनाथ ही रहेंगे। उनकी भूख-प्यास शान्त करने, उन्हें सुशिक्षित बनाकर जीविका के साधन तक पहुँचा देने के लिए हमारे ईसाई-भाई सदा तत्पर रहेंगे। यदि इस सुख-शान्ति के बीच मुझे कोई दुख है, तो यही कि अब भी मेरे हृदय में हिन्दू-धर्म-प्रेम के कुछ कण शेष रह गए हैं और उन दिनों की स्मृति मुझे कभी-कभी बेचैन कर देती है। बस, यही मेरी आत्म-कथा है।"

मि० फ़िलिप की आत्म-कथा सुनकर मैं सन्न रह गया। उन्होंने जैसे सुन्दर पर्दा हटाकर मुझे हिन्दू-समाज का भीषण स्वरूप दिखला दिया। आज मुझे मालूम हो गया कि हिन्द में मुसलमान-ईसाइयों की जो संख्या बढ़ रही है, उसका प्रधान कारण हिन्दू-समाज ही है। वही अपने आदमी देकर मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या बढ़ा रहा है। इसमें ईसाइयों और मुसलमानों का विशेष दोष नहीं है।

# मैं ईसाई कैसे हुई ?
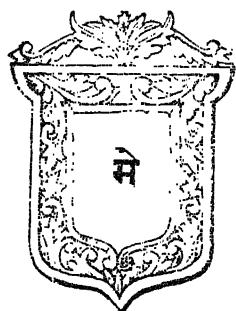
मेरे पतिदेव स्त्री-शिक्षा के बड़े प्रेमी हैं। जिस समय उन्होंने मेरा पाणि-ग्रहण किया था, उस समय वे कॉलेज से बी० ए० पास करके निकले थे। आज उन्हें बी० ए० पास किए पूरे बीस बरस हो गए, परन्तु उनकी शिक्षा-सम्बन्धी सम्मतियाँ वे ही हैं। उस समय वे स्त्री-शिक्षा के जैसे पक्षपाती थे, वैसे ही आज भी हैं।

विवाह के बाद मैं पतिदेव के साथ प्रयाग चली आई। मैंने मायके में, हिन्दी-भाषा में कुछ-कुछ शिक्षा पाई थी। पतिदेव बी० ए० पास थे, और थे स्त्री-शिक्षा के कट्टर पक्षपाती। साहबी ठाठ-बाट उन्हें बहुत पसन्द था। तब भला मेरी मामूली शिक्षा—और वह भी हिन्दी-भाषा की शिक्षा, उन्हें कैसे सन्तुष्ट कर सकती थी? मेरी योग्यता से वे दुखित तो हुए, पर निराश न हुए। उनकी बड़ी इच्छा थी कि मैं कुछ-कुछ अङ्गरेज़ी भी पढ़ जाऊँ।

उन दिनों स्त्री-शिक्षा के विषय में मरियम का नाम विशेष प्रसिद्ध हो रहा था। मरियम एक ईसाई-रमणी थीं। वे बहुधा ईसाई-महिलाओं और देशी साहबों की स्त्रियों तथा बहू-बेटियों को अङ्गरेज़ी भाषा की शिक्षा दिया करती थीं। उनके पढ़ाने की रीति ऐसी सरल—ऐसी मनोहर थी कि वे जो कुछ पढ़ाती थीं, वह विद्यार्थिनियों के हृदय पर अङ्कित हो जाता था। पतिदेव ने उनकी प्रशंसा सुनी। उन्होंने मेरी शिक्षा का भार मरियम को ही सौंपने का निश्चय कर लिया। उनका निश्चय सुनते ही घर के लोग बहुत बिगड़े। बोले—'ईसाई-स्त्री हमारे घर में न आने पाएगी, वह बहू को बाइबिल पढ़ाएगी, बहू ईसाइन हो जायगी।' पर पतिदेव के निश्चय के सामने किसी की एक न चली—मरियम मुझे शिक्षा देने आने लगीं।

मैं समझती थी कि मरियम अङ्गरेज़-महिला होंगी, पर देखने पर मालूम हुआ कि वे शुद्ध भारतीय रमणी हैं। मरियम बड़ी ही सरल-हृदया और हँसमुख थीं। मुझे बड़े प्रेम से हँस-हँसकर पढ़ाती थीं। धीरे-धीरे मैं उनसे ख़ूब हिल-मिल गई। उनके मधुर व्यवहार ने मेरा मन मोह लिया। उनके व्यवहार से मुझे कभी यह मालूम न हुआ कि वे मेरी गुरुआनी हैं, यही जान पड़ता था कि वे मेरी सखी हैं, मैं उनकी सखी हूँ। लोग कहा करते हैं कि ईसाई लोग अपने धर्म के बड़े कट्टर—बड़े प्रेमी होते हैं, अनुकूल

अवसर पाते ही अपने धर्म का प्रचार करने लगते हैं; पर देवी मरियम में मैंने कभी यह बात न देखी—वे मेरे सामने कभी ईसाई-धर्म की चर्चा न करती थीं। उनका काम केवल मुझे अङ्गरेज़ी की अच्छी योग्यता प्राप्त करा देना था। हाँ, समय पड़ने पर—बात चलने पर—वे मुझे उपदेश भी देती थीं, और वे उपदेश हिन्दू-धर्म की चलनी में छने हुए होते थे।

मरियम का वह मधुर व्यवहार, उनका वह सुन्दर आचार-विचार, उनका वह हिन्दू-धर्म के प्रति प्रेम-भाव देख, मुझे कौतूहल होता था। उनकी आयु उस समय लगभग तीस बरस की रही होगी। वे विधवा थीं, पर मैंने कभी उनके मुखड़े पर हर्ष छोड़, विषाद की क्षीण रेखा भी न देखी। इस बात से भी मुझे विशेष आश्चर्य होता था। मैं मन में सोचने लगती थी—मरियम निस्सन्देह किसी हिन्दू-कुल की ललना हैं! कैसा गोरा रङ्ग है, कैसा लुभावना रूप-लावण्य है। अवश्य ही यह किसी बड़े घर की बहू-बेटी हैं। फिर यह ईसाई क्योंकर हो गईं? अवश्य ही यह बात भेद से भरी हुई है। उनका हाल जानने के लिए मेरी उत्कण्ठा विशेष बलवती हो रही थी, पर सङ्कोच जीभ में लगाम लगा देता था।

एक दिन हज़ार चाहने पर भी मैं अपने कौतूहल को रोक न सकी, मरियम से पूछ ही तो बैठी—बहिन! तुम

ईसाई-रमणी हो, पर इतने दिन से तुम्हें देखती आती हूँ, मुझे तो तुममें ईसाई-धर्म की कोई विशेषता दिखाई न दी ! यह क्या बात है ? तुम्हारा रूप-रङ्ग, तुम्हारा आचार-विचार साफ़-साफ़ कह रहा है कि तुम कोई पवित्र हिन्दू-रमणी हो । फिर तुमने ईसाई-धर्म की गोद में कैसे आश्रय लिया ?

मेरे प्रश्न से जैसे मरियम के हृदय पर गहरी ठेस लगी । उनके खिले हुए मुखड़े पर विषाद की काली छाया छा गई, अधरों की मुस्कान अधरों में ही समा गई । वे थोड़ी देर के लिए चिन्ता-सागर में गोते खाने लगीं । थोड़ी देर बाद बोलीं—राधा ! वह लम्बी कथा है । उसे सुन-कर क्या करोगी ? वह दुख-दर्द से भरी हुई, लाञ्छना से लदी हुई घृणात्मक कहानी है । वह तुम्हारे हिन्दू-समाज का बोलता हुआ घोर कालिमामय कलङ्क है । मेरी कहानी सुनोगी, तो मुझे घृणा से देखोगी—मेरा मुँह देखना पाप समझोगी । पापियों की पाप-कथा सुनने में भी पाप लगता है । परमात्मा ने तुम्हें देवता-जैसा पति दिया है, उसे धन्यवाद दो और चैन से जीवन के दिन बिताओ । मुझ दुखियारी की कथा सुनने से तुम्हें कुछ लाभ न होगा—केवल मेरे दुख की बुझी हुई आग एक बार फिर ज़ोर से भड़क उठेगी ।

यह कहते-कहते मरियम की आँखों में आँसू झलक आए । मरियम ने ये शब्द बड़े वेदनामय स्वर में कहे थे,

उनके मुखड़े पर दुख और परिताप की छाया नाच रही थी, नेत्र डबडबा रहे थे, जिससे मेरा हृदय भीतर ही भीतर मथा जाने लगा। मैं विह्वल हो उठी। मैंने उनके गले में हाथ डालते-डालते कहा—प्यारी बहिन, ऐसा न कहो! मैं घृणा करूँगी? तुमसे? राधा से तो ऐसा न हो सकेगा। तुम भले ही पाप-पुञ्ज हो, पर मेरी तो गुरुआनी हो—बहिन हो। तुम्हारी पाप-कथा में ऐसी शक्ति कहाँ, जो हमारे इस दृढ़ स्नेह-सूत्र को खण्डित कर सके। बहिन! केवल मेरी ख़ातिर अपनी कथा कह डालो; और नहीं तो तुम्हारे हृदय का बोझ ही हलका हो जायगा।

मरियम मेरा आग्रह न टाल सकीं। बोलीं—नहीं मानती, तो सुनाती हूँ। पर उन दिनों की याद आते ही मेरे हृदय-देश में एक ज़ोरों का तूफ़ान उठने लगता है। जी चाहता है, तुम्हारे इस निर्मम हिन्दू-समाज को उड़ा ले जाऊँ और समुद्र की उत्ताल-तरङ्गों में लीन कर दूँ। उफ़! वह कैसी घड़ी थी, वह कैसा अशुभ दिन था, जब क्रूर विधाता ने अपने निर्दय हाथों से मुझे इस कठोर एवं कर्त्तव्यशून्य हिन्दू-समाज के अञ्चल में फेंक दिया था। राधा! आज से पन्द्रह बरस पहले मेरा विवाह हुआ था। उसी विवाह की शुभ-घड़ी में मेरे भाग्याकाश में धूमकेतु का उदय हुआ था। आह! थोड़े दिन भी न बीतने पाए थे कि वह धूमकेतु अपना नाशकारी प्रभाव दिखलाकर अस्त हो गया।

मेरा जन्म एक अग्रवाल वैश्य-कुल में हुआ था। पिता जी जाति में बड़े कुलीन समझे जाते थे। घर की दशा कुछ बुरी न थी, पर वह विशेष श्री-सम्पन्न भी न था; मज़े में गुज़र-बसर चली जाती थी। माता-पिता भले विचार के आदमी थे, इसलिए उन्होंने मुझे थोड़ी-सी शिक्षा भी दिला दी। मैंने रामायण पढ़ लेने की योग्यता भली-भाँति प्राप्त कर ली। अस्तु—

धीरे-धीरे मेरी आयु ग्यारह बरस की हुई। मेरा पाठ-शाला जाना बन्द हो गया। अब माता-पिता को मेरे हाथ पीले कर देने की चिन्ता हुई। वे इसके लिए जी-तोड़ प्रयत्न करने लगे। वे ज्यों-ज्यों यत्न करते थे, त्यों-त्यों सफलता दूर भागती जाती थी। बात यह थी कि मेरे पिता ग़रीब थे। स्वार्थियों का स्वार्थ साधने के लिए उनका हाथ एकदम ख़ाली था। वैश्यों की जाति ठहरी, ग़रीब की बेटी के साथ कौन अमीर अपने बेटे का विवाह करना चाहता है? पर आश्चर्य की बात यह थी कि इस विषय में ग़रीबों के माथे भी ऊँचे थे। पिता जी बहुत चाहते थे कि किसी ग़रीब के बेटे के साथ ही मेरे फेरे पड़ जाते, पर वे भले आदमी उनकी ओर सीधे भी न देखते थे। उनका पहला प्रश्न यही होता था कि तुम्हारे पास रक्खा क्या है? कितना दहेज दोगे? उनकी कामना पूरी करने के लिए पिता जी के पास क्या रक्खा था? बेचारे अपना-सा मुँह लेकर चुपचाप

लौट आते, और चिन्ता से सिर लटकाकर बैठ रहते थे—कोई उपाय न सूझ पड़ता था।

आह! हिन्दू-समाज की कैसी स्वार्थ-लालसा है? उसकी स्वार्थ-लालसा के सामने ग़रीबों की कैसी छीछा-लेदर होती है। उसकी स्वार्थ-लालसा की भीषण वेदी पर नित्य कितनी कोमल-आत्माओं का कैसी क्रूरता से, कैसी पैशाचिकता से बलिदान किया जाता है, और उस रक्त-रञ्जित बलिदान को देखकर हिन्दू-समाज अट्टहास करता है। उफ़! कैसी हृदय-हीनता है हिन्दू-समाज़ में पुत्री का जन्म लेना घोर पाप है! और उस पाप का प्रायश्चित्त उस बेटी के बलिदान से ही नहीं, अनेक व्यक्तियों के बलि-दान से किया जाता है। भगवान् ने अमीर-ग़रीब सभी को बेटियाँ दे रक्खी हैं, फिर भी बलिदान का यह रक्त-प्रवाह हाहाकार करके होता ही जाता है! भगवान् जाने, यह भीषण रक्तपात—यह लोमहर्षण रक्त-प्रवाह—हिन्दू-समाज को किस महासागर के अतल-तल में डुबो देगा।

पुत्री वैसे ही माता-पिता को भार-स्वरूप होती है, और जब ऊपर से उसके विवाह के लिए ऐसी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हों, तब कहना ही क्या? अब मैं माता-पिता की आँखों का शूल हो गई। अब वे सारा क्रोध मुझी पर उतारने लगे। जब देखो तब मैं उनसे तिरस्कार पाती, उनकी फटकार सहती और सुनने न सुनने योग्य बातें सुनती

थी। मैं अबोध बालिका उनकी मर्मान्तक पीड़ा क्या समझती, स्नेह और दुलार के बदले वह अपमान, वह लाञ्छना पाकर रो उठती थी। माता-पिता मुझे देख, ठण्ढी साँस लेकर रह जाते थे। ज्यों-ज्यों मेरी उमर बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों विस्तृत नदी के समान माता-पिता की चिन्ता भी विराट् स्वरूप धारण करती जाती थी। वे मेरे विवाह के लिए विह्वल हो, अधिकाधिक प्रयत्न करते थे। पर समाज में वह हृदय ही कहाँ था, जो उनकी विह्वलता का—घबराहट और बेचैनी का अनुभव करता ? किसी पर क्या बीत रही है, इससे समाज को क्या लेना-देना ? उसे तो अपने काम से काम। माता-पिता हताश होकर बोल उठे—हा भगवन्! हमारे किस पूर्व-जन्म के पाप उदय हुए हैं। तुमने बेटी के रूप में हमारे गले यह फाँसी डाल दी! या तो हमीं को उठा लो या इस गल-ग्रह को! न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

धीरे-धीरे मेरी आयु पन्द्रह बरस की हो गई! शरीर में यौवन का उठान होने लगा। चञ्चलता की छाया पर गम्भीरता का प्रकाश चमकने लगा। उधर माता-पिता के आकुल हृदय और भी व्याकुल होने लगे। अब माता-पिता का दुख कुछ-कुछ मैं भी समझने लगी थी! उनका दुख मुझे भी दुखी कर देता था। मैं सोचने लगती थी—हा! मैं कैसी अभागिनी हूँ। सन्तान का जन्म माता-पिता को

सुखी करने के लिए होता है, पर मैंने अपने जन्म से माता की कोख में आग लगा दी है, पिता को तिल-तिल करके घोल डाला है। माता-पिता की आकुल-वेदना कैसे दूर होगी?

मैं बहुत चाहती थी कि माता से अपने विषय में कुछ कहूँ, पर न जानें क्यों कहने की हिम्मत न होती थी। एक दिन जी कड़ा करके मैंने उनसे कहा—माँ, इस प्रकार रात-दिन चिन्ता-ज्वाला में जलने से क्या होगा? मेरे लिए क्यों इस प्रकार व्याकुल होती हो? तुम्हारे ही घर में पड़ी रहूँगी, तो क्या बुरा है? तुम्हारी सेवा करूँगी, तुम दो रोटियाँ दोगी, उन्हीं पर अपने जीवन के दिन काट दूँगी। अपनी वस्तु को बेगानी करने के लिए तो कोई इस प्रकार आकुल-व्याकुल नहीं होता!

मैं समझती थी कि माता मेरी बात सुनकर अप्रसन्न होंगी, पर उन्होंने कहा कुछ नहीं; केवल उनकी आँखें डबडबा आईं। उनकी उन आँखों में दिल का कितना दर्द—हृदय का कितना सञ्चित स्नेह भरा हुआ था। आज मालूम हुआ कि माता जी मुझे अब भी कितना चाहती हैं।

मैं समझ बैठी थी कि अब मेरा विवाह न होगा। मैंने निश्चय कर लिया था कि माता-पिता की सेवा करूँगी। माता-पिता कहाँ तक बुरे होते हैं, आज विवाह न होने से चिन्तातुर हो रहे हैं, नाराज़ भी हो पड़ते हैं; पर

यह रोना कब तक रहेगा ! इनकी शीतल-छाया में मेरे जीवन के दिन मज़े से तेर हो ही जायँगे। परन्तु भाग्य की रेख कौन मेट सकता है ? मेरे भाग्य में दुख, त्रास और लाञ्छना का घोर हाहाकार हो रहा था, उस भैरव-नाद की गति को कुण्ठित करने की शक्ति किसमें थी ? कहाँ तो पिता जी मेरे विवाह के लिए कितने हाथ-पैर चला रहे थे और आशा उनके सामने चपला के समान चमक जाती थी, और अब दुर्भाग्य बिना ही बुलाए उनके पास नित्य मेरे विग्रह के सँदेशे लाने लगा !

मेरे घर से थोड़ी ही दूरी पर मेरी जाति के एक सेठ रहते थे। उनकी उमर उस समय लगभग साठ बरस की रही होगी। सिर के बाल सन के समान सफ़ेद हो गए थे, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई थीं, कमर बल खा चुकी थी। मैं उन्हें 'बाबा' कहकर पुकारती थी। माता जी मुझसे कहा करती थीं कि सेठ बाबा की सेठानी दूसरे विवाह की हैं। उनकी आयु मेरी माता की आयु के बराबर ही रही होगी। उनसे सेठ जी के एक पुत्र और दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थीं। उनका पुत्र मुझसे कुछ ही बड़ा था। वह और मैं बचपन में साथ-साथ खेला करते थे। पिता जी ने बड़ी चेष्टा की थी कि उसके साथ मेरा विवाह हो जाता। पर सेठ जी थे बड़े आदमी, वे पिता जी से कहने लगते थे—भई, प्रीति, बैर और नातेदारी बराबरी वालों में ही शोभा पाती है।

तुम ग़रीब आदमी हो, यदि तुम्हारे यहाँ नातेदारी करूँगा, तो लोग मुझी पर हँसेंगे। यदि किसी बराबरी वाले से रिश्ता जोड़ूँगा, तो चार पैसे की आमदनी तो होगी! ग़रीब आदमी ऐसी बातों का क्या उत्तर दे सकता है। पिता जी मेरे विवाह की चर्चा क्या करते थे, अपमान और मीठी कटूक्तियों को निमन्त्रण देते थे। यह है तुम्हारे हिन्दू-समाज की सुन्दर स्थिति। अपनी बेटी बिना याचना के दान करो और उसके साथ भरपूर दक्षिणा भी दो। यदि दक्षिणा देने का सामर्थ्य नहीं है, तो कोई उस दान को ग्रहण नहीं करना चाहता। हाँ, कलेजा-फाड़ कटूक्तियाँ सुनाने के लिए सभी उधार खाए बैठे हैं।

उस साल बड़ी सख़्त गरमी पड़ी। पानी का टोटा पड़ गया। चारों ओर हैज़ा फैल गया। बूढ़े सेठ जी को बिलखता हुआ छोड़कर सेठानी जी चल बसीं। रोने-धोने के बाद जब सेठ जी का जी कुछ हलका हुआ, तब उन्हें इस बात की चिन्ता ने आ घेरा कि अब इस भरी-पूरी गिरस्ती को कौन सँभालेगा, इस बुढ़ापे में कौन मेरा साथ देगा? हाय! भगवान् ने मुझे बिना मौत मार डाला—मुझ पर बिना बादलों के बिजली आ गिरी। लोगों ने सलाह दी—सेठ जी! लड़के का विवाह कर डालिए, सयानी-सी बहू ले आइए, वही घर-गिरस्ती सँभाल लेगी।

सेठ जी बोले—भई, लड़के का विवाह तो होगा ही,

आज न हुआ, कल हुआ ; पर मुझ अभागे को कहाँ ठौर मिलेगी ? बहू घर-गिरस्ती सँभाल लेगी ; पर बुढ़ापे के भार से जर्जर हुए मुझ बूढ़े को कौन सँभालेगा ? कलियुग का समय ठहरा, दुनिया में पाप छा रहा है, बेटा-बहू मिल-कर भगवान् से प्रार्थना करेंगे कि बूढ़े को आज ही—अभी उठा लो ! हाय ! बुढ़ापे का साथी कोई नहीं है ।

पिता जी के हृदय में सहानुभूति का ज्वार-भाटा उमड़ उठा । बोले—सच है सेठ जी ! बुढ़ापे में सभी वैरी हो जाते हैं । केवल पत्नी ही बुढ़ापे की लाठी है ! पर क्या किया जाय, आप पर भगवान् की दृष्टि ही टेढ़ी है !

पिता जी ने माँ को ये सब बातें सुनाईं । इस समय उनके मुखड़े पर कुछेक सन्तोष की आभा झलक रही थी, नेत्रों में आशा की ज्योति टिमटिमा रही थी ! वे माता का उत्तर सुनने के लिए बड़े चाव से उनकी ओर देख रहे थे, माता ने जवाब दिया—"क्या कहना ! तुम्हारी राय बहुत चोखी थी । दुनिया में कभी किसी बूढ़े का बिना पत्नी के निर्वाह हुआ भी है कि बेचारे सेठ जी का ही होगा ।" पिता जी ने रूखी हँसी हँस दी ।

इसके कुछ दिन बाद की बात है, मैं घर में कुछ काम कर रही थी । पिता जी दालान में बैठे चिलम फूँक रहे थे । इतने में उनके पास हमारे गाँव के बूढ़े पुरोहित जी आ बैठे । इधर-उधर की बातों के बाद मेरे विवाह की चर्चा

छिड़ गई। पुरोहित जी बोले—साहु जी, कुछ न पूछो! कर्म की गति ही तो है! ऐसी हीरा-सी बेटी और उसका कहीं ठीक नहीं पड़ता! मेरी एक बात मानो, तो मैं कहूँ। सम्बन्ध कुछ अच्छा तो नहीं है; पर न होने से तो अच्छा है। आख़िर बेटी को कब तक कुँआरी बैठाले रहोगे। सेठ जी के साथ सम्बन्ध कर डालो! बेटी रानी बनकर रहेगी—एक सुख न सही और सब सुख तो रहेंगे। बड़े आदमी के साथ नातेदारी हो जायगी, तो तुम्हारे भी दिन फिर जायँगे, चार लोग तुम्हारी भी रीझ-बूझ करेंगे।

पिता जी हँसकर बोले—अजी राम कहो! कहाँ मेरी फूल-जैसी बेटी और कहाँ वह साठ बरस का खूसट! कौन आँखें रहते ऐसे बुड्ढे को अपनी बेटी देना चाहेगा?

माता ने उत्तर दिया—महाराज, बेटी कुँआरी बैठी रहेगी, पर उस बुड्ढे को तो न विवाहूँगी! वह धनी है, तो अपने घर का—उसके पीछे बेटी क्यों मिट्टी में मिलाऊँ?

महाराज बोले—सो तो मैं भी जानता हूँ, पर यह भी तो सोचो कि माता-पिता जन्म के साथी होते हैं—कर्म के तो होते नहीं। आख़िर कहीं न कहीं तो ठीक-ठाक करना ही पड़ेगा, बेटी कुँआरी कब तक बैठी रहेगी। सेठ जी का विवाह यहाँ न होगा, तो अन्त हो जायगा? तब तुम्हारे हाथ से यह अवसर भी निकल जायगा। तुम घर के आदमी हो। बेटी के विवाह के लिए कितने दिन से

आकुल-व्याकुल हो, तुम्हारा दुख नहीं देखा जाता, इसीसे इतनी बात कह डाली। फिर जैसा तुम ठीक समझो।

इतना कहकर पुरोहित जी चले गए। फिर तो रोज़ ही सेठ जी के सँदेशे आने लगे।

परन्तु भाग्य की रेख पर कौन मेख मार सकता है? मेरा भाग्य-सूत्र तो भगवान् ने उन्हीं वृद्ध सेठ जी के भाग्य के साथ ग्रथित कर दिया था, फिर उसे कौन छिन्न-भिन्न कर सकता था? पिता जी ने कितनी चेष्टा की थी कि सेठ जी के पुत्र के साथ मेरा सम्बन्ध हो जाता; पर उस समय सेठ जी अमीरी की शान में थे, उनका दिमाग़ सातवें आसमान की सैर करता था! पिता जी की प्रार्थना को—आग्रह को—वे हँसी में ही नहीं उड़ा देते थे, वरन् व्यङ्गपूर्ण शब्दों में उनका तिरस्कार और उपहास भी कर डालते थे। परन्तु अब वही सेठ जी बुढ़ापे में—मरण-काल की सन्धि-वेला में नई दुलहिन पाने के लिए—एक निरीह बालिका के यौवन-पुष्प को धूलि-धूसरित करने के लिए उतावले हो रहे थे। अपने बड़प्पन की सब शान भुलाकर मेरे ग़रीब पिता के सामने हाथ फैलाने में तनिक भी न हिचकते थे। उनसे प्रार्थना करते थे, आग्रह करते थे और एक वृद्ध को नवजीवन दान करने का अभूतपूर्व पुण्य सम्पादन करने के लिए उन्हें उत्तेजित करते थे। और समाज के वे व्यक्ति, जिनकी पवित्र एवं पुण्यमयी

दृष्टि में ग़रीबी अक्षम्य अपराध है, अब पिता जी का सम्मान करते थे। उन्हें सम्मति देते थे कि भाई यह सम्बन्ध करने में न चूको! भगवान् की दया से ही ऐसा अवसर प्राप्त होता है, बहती गङ्गा है, हाथ धो लो! मुफ़्त में पुण्य प्राप्त होता है, तब उसे छोड़ देना केवल नादानी है। परन्तु पिता जी उनसे साफ़ कह देते थे कि—बाबा, ऐसे पुण्य को दूर से ही नमस्कार! यही सेठ जी कल तक मेरा तिरस्कार करते थे, मैं कहता था, मुझ पर दया करो, अपने लड़के के साथ मेरी बेटी का सम्बन्ध हो जाने दो, तो सेठ जी मुझसे सीधे बात तक न करते थे। कहते थे, नाते-रिश्तेदारी बराबरी वालों में ही शोभा पाती है। सो भाई, मैं अब भी वैसा ही ग़रीब हूँ। उनसे मेरी नातेदारी कैसे हो सकेगी?

सेठ जी ने देखा कि मेरे पिता यों वश में नहीं आते, तब उन्होंने दूसरी चाल खेली। पिता जी को राज़ी न होते देख, सेठ जी ने उन्हें एकदम पाँच हज़ार की थैली दिखलाई! द्रव्य-देवता के मोहन-रूप ने पिता जी को लट्टू कर दिया! उनका कठोर हृदय मोम हो गया, सेठ जी के प्रति उनमें दया के कोमल भाव उत्पन्न हो उठे। वे भूल गए कि सेठ जी उनके साथ कैसा व्यवहार कर चुके हैं, वे भूल गए कि सेठ जी मुरझाए हुए फूल हैं और मेरी बेटी अधखिली कली है! ये एक ही गुलदस्ते में कैसे शोभा

पा सकेंगे! उन्होंने माता को सब हाल कह सुनाया। माता बोलीं—तुम्हें हो क्या गया है? कल तक तो तुम ऐसी बातें करते थे और आज एकदम मति बदल गई। सेठ जी को आख़िर घर-गिरस्ती की ही चिन्ता है न! तुम उनसे कहो—मुझे तुम्हारे रुपए न चाहिए, अपने बेटे के साथ मेरी बेटी का विवाह कर दो, वह तुम्हारा घर-द्वार सँभाल लेगी।

पिता जी बोले—आह, श्यामा की माँ! तुम बूढ़ी होने को आईं, पर तुम्हारा भोलापन अब तक न गया! क्या तुम देखती नहीं कि मैं कितने प्रयत्न कर चुका हूँ, पर किसी के भाग्य को कभी बदलते भी देखा है? बेटी के भाग्य में यही बदा होगा, तो हम क्या कर सकते हैं? उससे मैंने कितना ही कहा कि मैं तुम्हारे बेटे के साथ अपनी बेटी का सम्बन्ध कर सकता हूँ, वह जब माने तब न? अब तो इसी में सार जान पड़ता है कि सेठ जी के साथ बेटी का विवाह कर दिया जाय, और नहीं तो बेटी का कुँआरपन तो उतर जायगा। फिर उसे उनके यहाँ सुख ही सुख तो है। यदि हम इस बार भी चूक गए तो पाँच हज़ार से तो हाथ धोवेंगे ही, बेटी भी न जाने कब तक कुँआरी बैठी रहेगी! अब जैसी तुम्हारी राय हो।

माता की आँखें छलछला आईं। बोलीं—हाय रे बेटी का धन! जिए भो रुलावे और मरे भी रुलावे! जैसा ठीक

समझो, करो। अब मैं क्या करूँ—क्या कहूँ? आत्म-सन्तोष ने पिता जी के मुखड़े को प्रफुल्लित कर दिया।

मेरे भाग्य का निपटारा होने जा रहा था, पर मुझसे कोई न पूछता था कि तुझे तो कुछ कहना-सुनना नहीं है? विवाह-शादी का प्रश्न लड़के-लड़की से सम्बन्ध रखता है, विवाह उनके जीवन-मरण का—सुख-दुख का प्रश्न है। पर उसे हल करने बैठते हैं अन्य लोग, जिन पर वैवाहिक जीवन की रत्ती-भर भी झलक न पड़ेगी। इतने पर भी यह क्रूरता है कि उस विवाह से चाहे लड़के-लड़की का जीवन ही क्यों न मिट्टी में मिल जाय, पर उसके विषय में उन्हें कुछ न कहना चाहिए! और यदि कभी कोई कुछ कहने का साहस करे भी, तो समाज की अग्निमय दृष्टियाँ मानों उसे भस्मसात् करने के लिए पहले से तैयार रहती हैं। मैं अब समझने की बुद्धि भी प्राप्त कर चुकी थी। इस सम्बन्ध की बात सुनते ही एक अव्यक्त वेदना भीतर ही भीतर मेरा हृदय मथने लगी। मन में एक बार आया कि माता-पिता से कह दूँ कि मुझे कुँआ-बावली में पटक दो, पानी में बहा दो, पर मुझे बूढ़े के गले से न बाँधो। पर मैं बहुत दिन से देखती आ रही थी कि माता-पिता मेरे विवाह के लिए कैसे आकुल और चिन्तातुर हो रहे हैं, अब जाके कहीं यह भला-बुरा सम्बन्ध तय हो पाया है। यदि मैं उनसे कुछ कहूँगी भी, तो वे मेरी सुनेंगे ही क्यों, और ऊपर से मुझे

निर्लज्ज बनना पड़ेगा ! न जाने समाज की कितनी निरीह अबलाओं को ऐसी विषम वेदनाओं का अनुभव करना पड़ता होगा। और लज्जा ? यह तो ऐसी स्थिति में नारी के लिए विडम्बना-मात्र है—यह मैं नहीं जानती थी। मैं मन की वेदना मन में ही दबाकर रह गई। परन्तु हृदय न माना, एक कोठरी में छिपकर मैं अपनी हृदयाग्नि शीतल करने की निष्फल चेष्टा करने लगी।

विवाह की तैयारी होने लगी। मैं मन ही मन घुलने लगी। माता-पिता की उदासी और उनकी डाँट-फटकार ने मेरी प्रफुल्लता पहले ही छीन ली थी, और अब भाग्य के इस निर्मम फ़ैसले ने मेरी रही-सही आशा में एक बारगी आग लगा दी। मेरी आँखों में नित्य गङ्गा-जमुना उमड़ी रहती थीं। माता जी भी मेरी दशा देख, व्याकुल हो उठती थीं। कहने लगती थीं—बेटी, उस लीलामय की लीला की ओर देखो ! अपने भाग्य की ओर देखो ! मैंने और तुम्हारे पिता ने कितनी चेष्टा नहीं की, पर हम तुम्हारे दुर्भाग्य पर विजय न पा सके ! भाग्य की अमिट रेखा की ओर देखकर सन्तोष करो, मन को दुखी करने से क्या लाभ होगा ? भगवान् से प्रार्थना करो, वह हिन्दू-समाज की कोख में केवल बालक ही बालक उत्पन्न करे। अस्तु—

उचित समय पर बूढ़े सेठ जी—मेरे दादा के समान सेठ जी—बनरा बनकर आए ! बड़ी धूमधाम हुई। जाति-पर-

जाति वाले खुशी से खिले जा रहे थे। शुभ-मुहूर्त्त में उनके साथ मेरे शरीर का गँठजोड़ा हो गया, मेरे फेरे पड़ने लगे। स्त्रियाँ मङ्गल-गान गाने लगीं, पुरोहित जी पवित्र मन्त्रों का पाठ करने लगे। मैं निरपराध थी, मैंने समाज का कुछ अनिष्ट न किया था, पर फिर भी समाज उस हँसी-खुशी के बीच में कैसी निर्ममता से वृद्ध-विवाह की वेदी पर मेरा बलिदान कर रहा था। मेरे हृदय में क्रोध और घृणा का तूफ़ान उठने लगा। आँखों से अग्नि-स्फुलिङ्ग होने लगा। पर वह तूफ़ान हृदय की चहारदीवारी के अन्दर ही हलचल करता रह गया। वह अग्नि-चिनगारियाँ आँखों की पलकों से ही टकराकर रह गईं। हाय! न जाने प्रतिदिन कितनी हिन्दू-बालिकाएँ इसी प्रकार बलिदान की जाती होंगी। अहा! कितना अच्छा होता, यदि वह तूफ़ान उस दिन हिन्दू-समाज पर आ टूटता और अग्नि की वे चिनगारियाँ उसे क्षार-क्षार कर डालतीं।

मैं बूढ़े के गले मढ़ दी गई। माता ने बिलख-बिलखकर मुझे विदा किया। आँखों में आँसू भरे, दुख और निराशा का बोझ हृदय पर लादे हुए मैं पति के घर आई। घर में आदमी अधिक नहीं थे, दो-एक दास-दासी भी थे, मैं मायके में ही घर-गिरस्ती के कामों की यथेष्ट शिक्षा पा चुकी थी, इससे मुझे पतिदेव का उजड़ा हुआ घर बसाने में—उसे सँभालने में विशेष कठिनाई न हुई। पतिदेव

को मैं बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुई थी, और कठिनाई से प्राप्त की हुई वस्तु पर विशेष प्रेम होता ही है, स्वभावतः मनुष्य उसकी रक्षा के लिए सचेष्ट रहता है; अतः मुझे उनसे अनायास ही—बिना याचना के यथेष्ट प्रेम प्राप्त हुआ। मुझे प्रसन्न और सन्तुष्ट करने के लिए वे भरपूर चेष्टा करते थे, परन्तु उनके उस स्नेह के बीच में एक विशेष बात थी। वे दूकान पर बहुत कम जाते थे, बहुधा घर में ही रहते और मुझसे घुल-घुलकर बातें करते तथा पातिव्रत्य-धर्म पर मुझे नाना भाँति के उपदेश भी देते थे।

मैं पन्द्रह-सोलह बरस की नवयुवती थी, और वे साठ साल के बूढ़े थे! उनकी रसीली बातें सुनकर मुझे केवल कौतूहल होता था। उनका वह लाड़-प्यार, उनका वह घुल-घुलकर बातें करना; उनका वह उपदेश-दान मेरे उमङ्गपूर्ण हृदय को ज़रा भी अपनी ओर आकर्षित न कर सका। जब वे मुझपर प्यार करने लगते, जब वे मुझे प्रसन्न करने के लिए हँस-हँसकर रसीली बातें करने लगते, तब मेरे हृदय की विचित्र दशा हो उठती। उस पर एक अव्यक्त वेदना की काली छाया आ पड़ती और वह भीतर ही भीतर हलचल करने लगती। वे ज्यों-ज्यों मुझे अपनी ओर आकर्षित करने लगे, त्यों-त्यों मैं उनके पास रहते हुए भी दूर—बहुत दूर जाने लगी। मेरे हृदय में उनके प्रति कणभर भी स्नेह उत्पन्न न हो सका! उलटे उनके प्रेमालाप

से मुझे घृणा होने लगी! जब वे मुझ पर प्यार करना चाहते, तब हृदय उनसे दूर भाग जाने के लिए आकुल हो उठता। उनके उपदेश मुझे पवित्र मार्ग पर ले जाने में असमर्थ ही रहे। उलटे उनसे मेरा हृदय घृणा और प्रतिकार के भावों से अभिभूत होने लगता।

मैं मन ही मन सोचने लगी—साठ-साठ बरस के बूढ़े बालिकाओं के पति बनकर ख़ुशी से नाच उठते हैं! संसार का रस पूर्णतया पान करने पर भी इनकी आकुल वासना तृप्त नहीं होती। इतने पर भी ये बालिका-पत्नियों से पाति-व्रत्य की—वैराग्यपूर्ण जीवन बिताने की—आशा करते हैं! जब वैराग्यपूर्ण जीवन इतना पवित्र है—इतना आनन्ददायक और तृप्तिकर है, तब ये स्वयं उससे क्यों दूर भागते हैं? एक-एक, दो-दो पत्नियों के स्वामी होकर भी, मृत्यु के समीप पहुँच जाने पर भी इन्हें तरुणी के आलिङ्गन की इतनी आकुल तृषा क्यों रहती है? क्या इस आयु में ये भगवान् का पवित्र नाम लेते-लेते अपना अपवित्र जीवन पवित्र नहीं कर सकते?

ऐसी ही ऐसी बातें सोचते-सोचते पुरुषों की स्वार्थ-लालसा पर मुझे आन्तरिक घृणा हो उठी! और घृणा क्यों न होती? ये लोग स्त्रियों को इतनी बुरी दृष्टि से देखते हैं, वे इनकी प्रसन्नता की—इनकी वासना-पूर्त्ति की साधारण सामग्री हैं! अपनी लालसा की तृप्ति के लिए ये रमणी के

जोवन का कैसा अनुचित लाभ उठाते हैं—यहाँ तक कि उसे निर्ममता से बलिदान कर डालते हैं, कष्ट से और मानसिक यन्त्रणा से उसे जीवन-भर रुलाते हैं, उसे अशान्ति की अग्नि में हँसते-हँसते झोंक देते हैं। पतिदेव मुझकर खूब प्यार करते थे—दिन-रात मेरे पास रहते थे। समझते थे, इस आचरण से मैं इस युवती को रिझा लूँगा, इसके तन-मन का वास्तविक स्वामी बन बैठूँगा! पर इससे मेरे हृदय पर दूसरा ही प्रभाव पड़ता था! वे मुझे नेत्रों में बाँधकर रखना चाहते थे, पर मुझे उनका हार्दिक अभिप्राय समझने में अधिक दिन न लगे। उनकी आँखें मानों मुझ पर स्नेह-सुधा बरसाना चाहती थीं, पर उनमें स्नेह के साथ ही अविश्वास और सन्देश भी लहरें मारते हुए स्पष्ट दीख पड़ते थे! नहीं तो उन्हें दिन-रात मेरे ही पास रहने की—मेरी ही चिन्ता में लगे रहने की—क्या आवश्यकता थी? मेरा आचरण कुछ अपवित्र तो था नहीं, अतः पतिदेव की वे सन्दिग्ध आँखें मेरे हृदय में शूल-जैसी चुभने लगीं। परन्तु फिर भी मैं मन की वेदना मन में ही छिपाए रहती थी! मैंने कभी उन्हें असन्तुष्ट या अप्रसन्न करने की चेष्टा नहीं की।

मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि पतिदेव के मुझसे कुछ ही बड़ा एक लड़का था, परन्तु उन्होंने दहेज के फेर में पड़कर अब तक उसका विवाह न किया था। घर में मेरे

आते ही उस पर शनिदेवता की क्रूर-दृष्टि पड़ी। जो एक-लौता पुत्र पिता को प्राण-प्रिय होना चाहिए था, वही अब उनकी आँखों में खटकने लगा। वे जब मुझसे बातें करते होते और वह कार्यवश उनके पास आ जाता, तब वे उसे वक्र-दृष्टि से देखने लगते! यदि वह कभी मुझसे बोलने-बताने लगता और कहीं उनकी दृष्टि पड़ जाती, तो वे अकारण ही उस पर बिगड़ उठते। तब वह मेरी ओर ताककर चला जाता! उसकी उस चितवन में न जानें कौन-सा जादू भरा था कि मैं एक चिन्ता-स्रोत में बहने लगती! पतिदेव की ओर देखती और उसकी बात सोचने लगती। तब पतिदेव कहते—क्या सोचती हो! वह निरा मूर्ख है, ऐसे ही व्यवहार के योग्य है! जवान हो गया, पर अभी तक उसे अपना स्वार्थ सँभालने का होश न आया! ऐसा पुत्र किस काम का?

उनकी ऐसी बातों से मेरे हृदय पर बड़ी ठेस लगती। मैं भली-भाँति जानती थी कि वे पुत्र से ऐसा शुष्क व्यवहार क्यों करते हैं, पर कर ही क्या सकती थी? एक दिन मैंने बहुत सोच-विचार के बाद उनसे कहा—जो कुछ भी हो, वे हैं तो तुम्हारे ही पुत्र। अब वे नादान भी नहीं रहे, पर तुमने उनका विवाह अब तक नहीं किया। अब शीघ्र ही उनका विवाह कर डालो। तुम्हारी बहू आएगी तो उसके साथ मेरा समय भी आनन्द से बीतेगा। यदि तुम शीघ्र

ही उनका विवाह नहीं करोगे तो मैं मायके चली जाऊँगी और यहाँ न रहूँगी।

मैंने सोचा था कि बहू आ जाने से मैं और उनका पुत्र दोनों ही उनकी अविश्वासपूर्ण दृष्टि के लक्ष्य तो न बनेंगे। उन्हें मेरी बात जँच गई। शीघ्र ही उन्होंने पुत्र का विवाह कर डाला। पर जैसा करना चाहिए था, वैसा न किया—बहू अभी बिलकुल नादान थी और कई बरस तक उसके ससुराल में आने की आशा न थी। मेरे मतलब पर पानी फिर गया।

मेरा भाग्य अब तक धीमे-धीमे जल रहा था, पर अब विधाता से यह भी न देखा गया, उसकी क्रूर-दृष्टि अब मुझ पर और भी क्रूरता से पड़ी और मेरा भाग्य एकबारगी हाहाकार करके धधक उठा। मेरे सुख की वह क्षीण प्रकाश-रेखा घोर तमोराशि में विलीन हो गई। पतिदेव वृद्ध थे, उनका शरीर टूट चुका था, परन्तु मेरे आने पर वे युवक बनने की सतत साधना करने लगे थे। वैद्यगण उनकी साधना को सफल बनाने के लिए पूरी सहायता करते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे आने के कोई डेढ़ बरस बाद ही उनका शरीर और भी जीर्ण हो गया! व्याधियों ने उन्हें अपनी लीला-भूमि बना डाला।

मैं जानती थी कि मेरे भाग्य में पहले से ही अग्नि लग चुकी है, इसलिए मैं सदा परमात्मा से यही प्रार्थना

करती रहती थी कि मेरी जीवन-लीला जितनी जल्दी समाप्त हो जाय, उतना ही अच्छा है। पर शीघ्र ही मुझे मालूम हो गया कि विधाता भी कभी-कभी उलटा सुनने लगते हैं। मैं उनसे अपने जीवन-समाप्ति की प्रार्थना करती थी, पर वे तैयारी करने लगे बूढ़े पतिदेव की जीवन-समाप्ति की। पतिदेव बीमार पड़े—बहुत अधिक बीमार पड़े। बड़ी ही सावधानी से उनकी चिकित्सा होने लगी। पर सूखे वृक्ष को भी कभी किसी ने हरियाते देखा है? सारी सावधानी—सारी चिकित्सा बेकार हुई! पतिदेव की मृत्यु-बेला आ पहुँची। उस दिन पूर्णिमा थी, चन्द्रदेव अपनी पूर्ण कला लेकर आकाश के आँगन में विचर रहे थे, उनकी कोमल किरणें, प्रकाश-धारा लेकर पृथ्वी पर थिरक रही थीं। रात्रि के बारह बजे पतिदेव ने आँखें खोल दीं। उन्होंने धीमी आवाज़ से मुझे अपने पास बुलाकर कहा—प्रिये! कितनी उमङ्गों से भरा हुआ हृदय लेकर, तुम्हें यहाँ लाया था, पर मन की साध मन में ही रह गई! तुम्हारा जीवन मैं आनन्दमय न कर सका। यम मुझे घेर रहे हैं, अब कुछ ही क्षण में मैं उस लोक को चला जाऊँगा। पर प्रिये, मुझे न भूल जाना! मेरे नाम की लाज रखना। घर में भगवान् का दिया सब कुछ है।

यह कहते-कहते उन्होंने आँखें मूँद लीं। कफ की घर-घराहट होने लगी। थोड़ी ही देर बाद एक हिचकी आई,

बोलता हुआ हंस उड़ गया—ख़ाली पिंजड़ा पड़ा रह गया। मैं माथा पकड़कर बैठ गई। मेरी आँखों में अमावस्या का घोर अन्धकार छा गया। 'हाय! मेरे दुर्भाग्य में अभी न जानें क्या बदा है' के आगे मैं और कुछ न कह सकी हृदय की असह्य वेदना आँखों से छल-छल करके बहने लगी! अस्तु—

पति के क्रिया-कर्म से छुट्टी पाकर मैं मायके पहुँची। मुझे देखकर माता का हृदय भर आया। मैं भी उनके गले से लिपट गई और खूब फूट-फूटकर रोई। मैंने उनसे कहा—माँ, अब मेरा वहाँ कौन बैठा है? अब मुझे अपनी शरण में रख लो! तुम्हारी सेवा करूँगी, तुम्हारी शीतल छाया में मैं किसी प्रकार अपना अग्निमय जीवन व्यतीत कर दूँगी।

माँ को कब इनकार था, बोलीं—मेरी दुखिया बेटी! रहो, मैं तुम्हें कलेजे से लगाकर रक्खूँगी। हाय! और मैं क्या कर सकती हूँ?

परन्तु मुझ अभागिनी के भाग्य के अन्तराल में तो विधाता की कुटिल लीला हो रही थी। पिता जी आड़े आए। बोले—यह न हो सकेगा। जहाँ की बला वहीं रहे! इसकी जवान मिट्टी है, यहाँ बिगड़-सुधर जायगी तो मेरी सात पीढ़ी में कलङ्क-कालिमा लग जायगी! फिर इसके यहाँ रहने से इसी की हानि है। वह इसका सगा बेटा तो है नहीं, सारी धन-सम्पत्ति अपने अधिकार में कर लेगा,

तब यह फूटी कौड़ी के लिए भी तरसेगी। इन सब कारणों से इसका वहीं रहना ठीक होगा।

मैंने कहा—पिता, मुझ अभागिनी पर दया करो। मुझे धन-सम्पत्ति से क्या काम? मुझे तो पेट के लिए दो रोटियाँ चाहिए। तुम्हारी थाली का जूठन खाऊँगी और दुख से लदे हुए इस जीवन को तुम्हारे स्नेह का सहारा पाकर बिता दूँगी।

पर पिता जी न माने। तब मैंने सोचा—सच है, कोई किसी के भाग्य का साथी नहीं। अब पिता के यहाँ मेरा क्या अधिकार है? अब तो मुझे अपने दिन वहीं बिताने होंगे, वहाँ मेरा कुछ न कुछ तो अधिकार है ही।

लाचार हो, मैं पुनः पति-गृह में जाकर रहने लगी। अब मेरे भाग्य ने नई-नई लीलाएँ दिखलाना प्रारम्भ किया। हाय! यदि पिता जी उस दिन अपने घर में मुझे दो हाथ जगह दे देते तो मेरा जीवन क्यों इस प्रकार बर्बाद होता? क्यों मुझे दर-दर ठोकरें खानी पड़तीं और क्यों मैं अपने धर्म से च्युत होकर पर-धर्म का आश्रय लेती? पतिदेव अपने युवक पुत्र का विवाह कर गए थे, पर उसकी बहू अभी नादान थी, वह मायके में ही अपनी बाल-लीलाएँ कर रही थी। वह घर में अकेला ही रहता था। अब उसकी देख-रेख करने वाला कोई था ही नहीं, और वह यौवन के मद में उन्मत्त हो रहा था। इधर मैं भी अकेली थी, मैं

जवानी की उत्ताल-तरङ्गों में बही जा रही थी ! पति का सुख कैसा होता है, पति के प्यार में कैसा आनन्द होता है, यह मैं जानती न थी ! वासना मेरे शरीर में ताण्डव-नृत्य कर रही थी। उसके नशे में मैं आप ही आप अपने को भूल जाती थी। घी और अग्नि का साथ था—वह भी जवान और मैं भी जवान—और जवानी दीवानी होती ही है ! उसका-मेरा आठ पहर, चौंसठ घड़ी का साथ था।

मेरे भाग्य के अन्तराल में पतन की गड़गड़ाहट हो रही थी। आकुल वासना ने मुझे ऐसा कुछ वशीभूत कर लिया था कि कान रहते भी मैं उस नाशकारी गड़गड़ाहट की ध्वनि न सुन सकी। मैं उसकी ओर आकर्षित हो रही थी और वह मेरी ओर खिंचा चला आ रहा था। धीरे-धीरे हम लोगों में वासनामय स्नेह की वृद्धि होती गई। क्रमशः उसका उत्साह बढ़ने लगा, परन्तु मैं अपने मन को भरसक सँभालने की चेष्टा करती थी। एक दिन मैंने उससे कहा—देखो भई, मैं अभागिनी हूँ—पापिनी हूँ ! मुझे क्यों पाप की ओर खींचे लिए जाते हो ? मेरे भविष्य को क्यों और भी अन्धकारमय बनाए डालते हो ? मेरा-तुम्हारा सम्बन्ध दूसरे प्रकार का है। दुनिया को मालूम हो जायगा तो मैं कहीं मुँह दिखाने योग्य न रह जाऊँगी।

उसने जवाब दिया—मूर्ख लोग ही ऐसी बातें सोचा करते हैं ! मेरा-तुम्हारा लौकिक सम्बन्ध चाहे जैसा हो,

पर हृदय का सम्बन्ध दूसरे ही प्रकार का है। इस घर पर तुम्हारा अधिकार है; मुझ पर तुम्हारा अधिकार है; मेरे हृदय पर तुम्हारा अधिकार है; तुम मेरे रोम-रोम में समा रही हो। चाहे पृथ्वी भले ही रसातल में चली जाय, पर मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता। तुम अपने को भले ही अभागिनी और पापिनी समझा करो, पर मेरे तो हृदय की देवी हो। मैं तुम्हारी पूजा करूँगा—अवश्य करूँगा। दुनिया की इतनी बड़ी आँख नहीं है कि वह हमारे इस प्रेम-सम्बन्ध को देख ले; और यदि देख भी ले तो इसमें हमारी क्या हानि? हम परस्पर प्रेम करते हैं, यह हमारा अधिकार है, इसमें दुनिया का क्या साझा? मैं ऐसी दुनिया की परवाह नहीं करता!

उफ़! पाप का रूप कैसा आकर्षक है, कैसा प्रिय और मधुर है! उसकी इन बातों से मैं आनन्द-विभोर हो उठी, तो भी मैंने उससे कहा—तुम कुछ भी कहो, पर मुझे तो इसमें सरासर हानि ही दीखती है। दुनिया की दृष्टि बड़ी प्रखर है; और ऐसी बातों में तो दुनिया की बात ही क्या, दीवार के भी कान होते हैं। कहती हूँ, मान जाओ!

पर मेरे सिर पर तो दुर्भाग्य की नङ्गी तलवार लटक रही थी, वह क्यों मानता! "मेरी देवी, मेरी जीवनाधार, ऐसी बातें कहकर मेरा जी न दुखाओ! अब ऐसी बातें करोगी, तो मैं ज़हर खा लूँगा।" कहते-कहते उसने मेरा हाथ पकड़

लिया ! वह मेरी ओर एकटक दृष्टि से देखने लगा। मेरे शरीर में मानों बिजली की धारा दौड़ गई—पुलक के आवेग से मेरा हृदय धड़धड़ाने लगा। उसकी उन आँखों में कितना मद, कितना विष भरा था ! वह प्रखर दृष्टि मेरे शरीर को भेदकर हृदय पर आघात कर रही थी। उन आँखों ने मुझे ठग लिया—मैं अपने आपको भूल गई; और यह भी भूल गई कि मैं कौन हूँ। कितनी अभागिनी हूँ, दुर्भाग्य मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ है। मैं उसके हाथों बिक गई।

'सारी दुनिया को भूलकर हम निर्विघ्न उस पाप-व्यापार में लिप्त हो गए। मेरे दिन बड़े ही आनन्द से, बड़े ही उल्लास से बीतने लगे। पाप की छलना मेरे सामने बड़े ही मधुर स्वरूप में नृत्य कर रही थी। उफ़ ! मैं नहीं जानती थी, इस मधुरिमा में कितनी भीषणता, कितनी निर्ममता और कितनी कटुता भरी हुई है। लगभग दो बरस बाद मुझे मालूम हुआ कि मेरे पैर भारी हो गए हैं, पर मुझे इससे ज़रा भी घबराहट नहीं हुई ! मैंने सोचा, जब मेरा रक्षक मेरे सिर पर है, तब मुझे डर किस बात का ? दुनिया नाम धरेगी तो धरने दो, सन्तान प्रेम का—पवित्र प्रेम का—प्रसाद लेकर आएगी, उससे हमारा अपवित्र जीवन पवित्रतर हो जायगा। एक दिन बड़े उल्लास से मैंने उसे यह आनन्द-समाचार सुना दिया।

वही आनन्द-समाचार हमारे लिए शत्रु से भी भीषण हो गया। सुनते ही उसका मुखड़ा उतर गया। बोला—यह तो बहुत बुरा हुआ! इससे तो हमारा मरना हो जायगा। तुम्हारा क्या, तुम्हें तो घर में रहना है, मौत तो मेरी है। मैं दस भले आदमियों में आता-जाता हूँ, मारे शर्म के सिर न उठा सकूँगा। जैसे बने, यह गर्भ तो गिराना ही होगा।

यह सुनते ही मानों मेरे पैरों के नीचे से धरती खिसकने लगी। मैंने बिगड़कर उससे कहा—पापी! धूर्त्त! उस दिन—जिस दिन तुमने मुझे इस पाप-पथ में घसीटा था—क्या कहते थे? अब क्यों डरते हो? मैं हर्गिज़ गर्भ न गिराऊँगी!

वह भाँति-भाँति से मुझे समझाने लगा। लाचार हो, एक पाप छिपाने के लिए मैं दूसरा पाप करने को प्रस्तुत हो गई। गर्भपात करने के लिए नित्य नई-नई दवाइयाँ आने लगीं। मुझे असह्य यातनाएँ झेलनी पड़ीं, पर गर्भपात न हो सका। धीरे-धीरे प्रसव-काल भी निकट आ पहुँचा। तब तो वह बहुत ही घबराया और मुझे अन्यत्र भेजने का प्रबन्ध करने लगा। पर उसका यह प्रयत्न भी व्यर्थ गया! मेरे यथासमय एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ! पाप के उस पवित्र परिणाम को देखकर मैं निहाल हो गई, अपना सब दुख भूल गई।

मैंने सोचा, जिस बात से यह डरता था, वह तो अब

हो ही चुकी; अब मुझे किस बात की चिन्ता ? मेरे जीवन सुख से कटेंगे ! परन्तु हा हन्त ! थोड़ी देर बाद वह घबराया हुआ मेरे पास आया और बोला—अभागिनी, पापिन ! तू मुझे ले डूबी ! तूने मुझे कहीं मुँह दिखलाने योग्य भी न रक्खा ! अब तू यहाँ और न रह सकेगी ! शीघ्र ही तुझे यहाँ से जाना पड़ेगा।

यह कहकर वह चला गया ! मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। मुझ पर बिना बादल के बिजली गिर पड़ी। मैं सोच-विचार में डूब गई, आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी, जैसे-तैसे मैं सौर से बाहर हुई। एक दिन घर पर बिरादरी के कुछ आदमी जमा हुए। पञ्चायत हुई। पञ्चों ने उससे कहा—तुम्हारे यहाँ ऐसा पाप होता है, तुम जाति में कैसे रह सकोगे ?

उसने उत्तर दिया—पञ्चो, यह आपकी कैसी दया है ? इसमें मेरा क्या अपराध ? इसके पहले तो मुझे पता ही नहीं चला कि यह दुष्टा ऐसी पापिनी है !

इस पर एक बूढ़े महाशय बोले—स्त्रियों की माया ऐसी ही होती है भैया ! दण्ड की बात पीछे देखी जायगी, इसे अभी घर से निकाल दो।

मैं अभी तक अपना क्रोध रोके बैठी थी ! अब मुझसे न रहा गया। मैंने पञ्चों से कहा—आप लोग ज़रा इसे देखिए तो, यह कैसा सीधा और भोला-भाला बन रहा है !

इसी ने ज़बर्दस्ती मुझे भ्रष्ट किया है, यह बच्चा इसी का है। आप लोग मेरा न्याय कीजिए।

वह पञ्चों से गिड़गिड़ाकर बोला—दुहाई है पञ्चों की! यह मेरी माँ है, मैं इसके साथ ऐसा घोर पाप करूँगा, भला आप ही विचारिए। भगवान् जानता है, इसके पाप के विषय में मैं अब तक अँधेरे में ही रहा, नहीं तो क्यों यह नौबत आती!

इस पर एक पञ्च बोला—हरे! हरे! त्रिया-चरित्र की भी कैसी माया है! आप पाप करती है और दूसरे को दोष लगाती है!

दूसरा पञ्च बोला—भला, कोई भी भला आदमी अपनी माँ के साथ ऐसा घोर पाप कर सकता है?

तीसरा बोला—इस पापिन का मुँह देखने में भी पाप है! इसे फ़ौरन घर से निकाल बाहर करो! खटके की कोई बात नहीं है!

इस प्रकार पञ्च लोग दूध का दूध और पानी का पानी करके अपने-अपने घर चले गए।

अब उस पापी ने मुझे मारकर घर से बाहर निकाल दिया। मैंने रोते-रोते दीन-वाणी में उससे कहा—मैं पापिनी हूँ, मुझ पर दया न करो। पर इस बच्चे ने तुम्हारा क्या अपराध किया है? भगवान् की दृष्टि में और तुम्हारी दृष्टि में तो यह तुम्हारा बच्चा है! इस पर तो दया करो!

परन्तु उसका पत्थर का हृदय न पसीजा। मेरा भाग्य सदैव के लिए मुझे अभागी बनाकर चला गया, मेरे लिए उस घर का द्वार सदैव के लिए बन्द हो गया। मेरी आँखों में अँधेरा छा गया, सिर चकरा उठा! मैं अभागिनी ख़ाली हाथ नवजात शिशु को लेकर कहाँ जाऊँ, कैसे मेरे दिन बीतेंगे, कैसे इस दो दिन के बच्चे का पालन होगा, आदि बातें सोचती-सोचती वहाँ से चल पड़ी। उस समय मेरी दशा बहुत बुरी हो रही थी! मैं कुछ न सोच सकी, कई दिन तक मैं भूखी-प्यासी यहाँ-वहाँ भटकती फिरती रही। पापी पेट की ज्वाला मेरे शरीर को दग्ध करने लगी। तब मेरे मन से उच्च-जाति के उच्च-वंश के सब ख़्याल जाते रहे। समाज की वेदी पर मेरा बलिदान पूर्णतया हो चुका था, अब मेरी दुर्दशा होने में किसी बात की कमी न रह गई थी! अन्त में उस प्यारे बच्चे के लिए जीवन धारण करने के विचार से मैंने भिक्षा-वृत्ति का आश्रय लिया। जो मुझे दो रोटियाँ दे देता था, मैं उसी की जाति की हो जाती थी। हाय! समाज में इतनी क्रूरता, इतनी स्वार्थ-परता न होती, उस बूढ़े के साथ मेरा विवाह न होता, वह लम्पट मुझे अपने प्रेम-जाल में न फँसाता, तो मुझे क्यों जात-परजात के सामने रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए हाथ फैलाना पड़ता?

राधा! यह तुम्हारे संसार-श्रेष्ठ हिन्दू-समाज की

करतूत है! मेरी कथा सुनकर तुम्हारे हृदय में न जाने कौन-कौन से विचार उठ रहे होंगे? तुम मुझे पापिनी—घोर पापिनी समझ रही होगी, पर ज़रा एक बार कहो तो, मुझे पतन के उस गम्भीर गह्वर में कौन खींच ले गया था? यदि यौवन की उद्दाम-वासनाओं ने मुझे उस छली युवक के हाथ बेच दिया था, तो क्या मुझे इतना घोर दण्ड मिलना चाहिए था, जो समाज ने मुझे दिया? और क्या वह वञ्चक युवक मेरे समान दण्ड पाने का पात्र न था? ख़ैर, अब इन बातों से लाभ ही क्या? जाने दो, मेरे भाग्य में जो बदा था वह अदा हुआ। इसमें किसी का क्या दोष?

हाँ, तो मैं गली-गली भीख माँगती फिरती थी। एक दिन हमारे गाँव में एक साहब आया। मैंने सुना कि वह दीन-दुखियों पर बड़ी दया करता है। कुछ पाने की आशा से मैं भी उसके पास जा पहुँची। उसने मेरे बच्चे को ख़ूब प्यार किया और मुझसे पूछा—तुम किसी अच्छे घर की लड़की जान पड़ती हो, फिर तुम्हारी यह हालत क्यों हुई?

मैंने साहब को अपना सब हाल रो-रोकर सुना दिया? तब साहब बोला—तुम मेरे साथ चलो, मैं तुम्हारे बच्चे को प्यार करूँगा और तुम्हारे लिए भी अच्छा बन्दोबस्त हो जायगा! वहाँ तुम्हें गली-गली भीख न माँगनी पड़ेगी!

मैं साहब के साथ चली गई। उन्होंने मुझे ईसाई-धर्म

की दीक्षा दी। ईसाई-धर्म का आश्रय लेते ही मेरे दुख-दर्दों का अन्त हो गया। ईसाई-समाज ने मेरा और मेरे बच्चे का पालन किया। उसी की कृपा से मैं अपनी जीविका चलाने योग्य भी हो गई।

राधा, यही मेरी कथा है ! इसे चाहे पापमय समझो, चाहे घृणामय, या लाञ्छनामय समझो ! पर एक बात मैं तुमसे अवश्य कहूँगी, वह यह कि यह कथा सुनकर यदि तुम्हें कुछ भी वेदना हुई हो, यदि हिन्दू-समाज की संहारक-प्रणाली पर तुम्हें कुछ भी घृणा हुई हो, तो कम से कम, समय पड़ने पर इस बात की चेष्टा अवश्य करना कि तुम्हारे द्वारा तुम्हारे समाज का कोई व्यक्ति इस प्रकार न सताया जा सके।

मैंने कहा—बहिन, मैं तुमसे घृणा क्यों करूँगी ? तुमसे कोई अपराध नहीं हुआ। सारा अपराध इसी अन्धे हिन्दू-समाज का है। जो कुछ तुमसे हुआ, वह केवल मनुष्य की कोमल प्रवृत्ति का एक साधारण परिणाम था। उसके लिए हिन्दू-समाज ने ऐसा घोर दण्ड देकर अपनी अविवेकता का ही परिचय दिया है। तुम्हारी आज्ञा का पालन करना मेरा ही नहीं, समग्र हिन्दू-समाज का पुनीत कर्त्तव्य है।

# अछूत की आत्म-कथा

मिस्टर टॉमस भारतीय ईसाई थे। बड़े ही हँसमुख, प्रसन्नचित्त, पर रोबीले और तेज़ तर्रार। शरीर गँठा हुआ और रङ्ग गेहुँवाँ था। वे साहबी ड्रैस में रहना बहुत पन्सद करते थे। उन दिनों वे रामपुर में तहसीलदार थे। उनकी प्रकृति में एक बड़ी ही विचित्रता थी। वे हिन्दुओं से बहुत ज़्यादा नफ़रत करते थे। हिन्दुओं के मामले-मुक़दमे में वे आवश्यकता से कहीं बहुत अधिक सख़्ती से काम लेते थे। उनके अधिकार में जो हिन्दू-कर्मचारी थे, वे भी उनसे सुखी न थे। पर मुसलमानों के प्रति उनके भाव दूसरे ही प्रकार के थे। जब उनके मामले-मुक़दमे होते, तब उनकी वह क्रूरता न जाने कहाँ चली जाती थी! मुसलमान-[illegible]—यहाँ तक कि एक अदना मुसलमान चपरासी भी उनका प्रेम-पात्र था और ईसाई तो उनके जाति-भाई ठहरे; उनसे उनकी गहरी छनती तो स्वाभाविक बात थी। टॉमस साहब के इस दृष्टि-कोण की भिन्नता से मैं मन ही मन खिन्न रहता था।

मैं टॉमस साहब का रीडर था। जाति का ठहरा ब्राह्मण, इसलिए जब देखो तब मुझ पर उनकी वक्र-दृष्टि रहती थी। मैं कितना ही डरकर चलता, कितनी ही साव-धानी से काम करता; पर साहब की डाँट-फटकार से न बचता। मेरे साथ एक मुसलमान-मुन्शी भी काम करता था। वह एक तो लापरवाह था, दूसरे साहब के मिज़ाज का परिचय पा चुका था, इसलिए सदा ही काम में असा-वधानी कर बैठता था। पर साहब कभी उसे डाँटते न थे, केवल एक मीठी फटकार से ही उसकी भर्त्सना कर देते थे। उनका यह दुरङ्गा व्यवहार देख, मेरा हृदय जल उठता। मैं मन ही मन सोचने लगता, मुझ पर ही इनकी यह शनि-दृष्टि क्यों रहती है—मैंने इनका क्या बिगाड़ा है। पर सर-कारी नौकरी में अधिकारी के सामने—और जब वह मजि-स्ट्रेट भी हो, ज़बान हिलाना, विपत्ति बिसाहना है! लाचार, मैं मन मारकर रह जाता था।

एक बार मेरी पत्नी बीमार पड़ी। उसकी दवा-दारू का प्रबन्ध करने के लिए मुझे छुट्टी की आवश्यकता प्रतीत हुई। मैंने टॉमस साहब से केवल पाँच दिन की छुट्टी माँगी, पर सहानुभूति दिखलाने के स्थान पर उन्होंने मुझे बुरी तरह झिड़क दिया। एक तो पत्नी बीमार थी, चित्त वैसे ही खिन्न था, दूसरे ऊपर से यह फटकार पड़ी—मारे क्रोध के मेरा सारा शरीर भन्ना उठा, आँखें लाल हो उठीं, हाथों

की मुट्ठी बँध गई। पर साहब के रोबीले चेहरे पर दृष्टि पड़ते ही मन मारकर रह गया। फिर भी मैंने निश्चय कर लिया कि आज साहब से इस अप्रसन्नता का कारण पूछ कर ही रहूँगा।

अदालत बन्द होते ही मैं टॉमस साहब के बँगले पर पहुँचा। उस समय वे कुर्सी पर बैठे आनन्द से सिगार पी रहे थे। मैं उन्हें सलाम कर चुपचाप खड़ा हो गया। साहब धुआँ छोड़ते हुए मुझसे बोले—पण्डित, क्या है?

मैंने अत्यन्त ही नम्रता से कहा—हुज़ूर अपराध क्षमा हो, कुछ विनय करना चाहता हूँ!

इस पर टॉमस साहब कुछ रुखाई से बोले—मैं समझ गया! तुम लोगों को सिवा छुट्टी के और भी किसी वस्तु की इच्छा रहती है? जब देखो तब छुट्टी की पुकार! मैं कहाँ तक छुट्टी बाँटता रहूँ?

मैं—नहीं हुज़ूर! और ही विनय करना चाहता हूँ। पर कहते डर लगता है—कहीं आप अप्रसन्न न हो उठें!

साहब—डरने की क्या बात है? कहो!

मैं—हुज़ूर! जब देखता हूँ, तब आपको हिन्दुओं पर अप्रसन्न होते ही देखता हूँ। मैं जैसा कुछ काम करता हूँ, आप उसे भली-भाँति जानते हैं। मैं कभी छुट्टी भी नहीं माँगता। मेरा साथी छोटा मुन्शी मुसलमान है, आप उसका भी काम भली-भाँति जानते हैं। मेरी पत्नी बीमार

है—बुरी तरह बीमार है। मैं आपका ताबेदार हूँ—आपसे सहानुभूति की आशा रखता हूँ, पर बदले में अपमान और खिन्नता पाता हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि हिन्दुओं पर आपकी यह अप्रसन्नता क्यों है, उन्होंने ऐसा कौन-सा पाप किया है?

कहते तो मैं इतनी बात कह गया, पर मारे भय के मेरे प्राण काँप उठे! मैं उनकी ओर देख तक न सका—नीची दृष्टि करके खड़ा रहा! परन्तु साहब अप्रसन्न न हुए, यह देख मुझे बड़ा विस्मय हुआ! साहस करके मैंने सिर ऊँचा उठाया! वे उस समय कुछ सोच रहे थे—ललाट पर सिकुड़न पड़ रही थी! साहब एक कश खींचकर बड़ी गम्भीरता से बोले—पण्डित! यह पूछने की बात नहीं है। हिन्दुओं से मुझे बड़ी घृणा है। उन पर दृष्टि पड़ते ही मेरा रक्त उबल उठता है। तुम पूछते हो, हिन्दुओं ने क्या पाप किया है? हिन्दुओं के पापों की भी कोई गिनती है! मैं समझता हूँ, हिन्दुओं के समान पापी क़ौम इस विराट् संसार में दूसरी न होगी! तुम लोग कहा करते हो, ईसाई पापी हैं; दूसरों की ही सम्पत्ति पर उनकी दृष्टि रहती है! मुसलमान पापी हैं—बड़े पापी हैं, हिन्दुओं का जी दुखाया करते हैं। पर पण्डित, बुरा मानने की बात नहीं है! मैं कहता हूँ, ईसाई और मुसलमान तुम्हारे बराबर पापी हर्गिज़ नहीं हैं। यह

हो सकता है कि वे दूसरे लोगों को सताया करते हों, पर अपनी क़ौम से तो मुहब्बत रखते हैं—अपने भाइयों के सुख-दुख में तो सम्मिलित होते हैं। एक तुम्हारी क़ौम है, जो आपस में प्यार करना जानती ही नहीं—उलटे अपने ही लोगों को सताती है। अपनी ही जाति के दीन-दुखियों के गले पर निर्दयता से, क्रूरता से, भोंथरी छुरी चलाया करती है। उन्हें आठ-आठ आँसू रोते देख आनन्द मनाती है—हँसती है। उफ़! इस घोर पैशाचिकता की—इस घोर क्रूरता की—भी कोई सीमा है? ऐसी क्रूर जाति संसार में और भी है? फिर भी तुम पूछते हो कि हिन्दुओं ने क्या पाप किया है? अरे ज़ालिम! जानता है, मैं कौन हूँ? मैं तुम्हारे इसी देश में, तुम्हारी इसी जाति में उत्पन्न हुआ हिन्दू हूँ। मुझे ईसाई किसने बनाया? तुमने और केवल तुमने। फिर भी तुम मुझसे पूछते हो कि हिन्दुओं ने मेरा क्या बिगाड़ा है? तुमने मुझे राम और कृष्ण की गोद से उठाकर ईसा की गोद में फेंक दिया—क्या यह साधारण पाप है? अब तुम मेरे कौन हो, हिन्दू-जाति मेरी कौन होती है? मैं उससे घृणा न करूँगा, तो क्या उनसे करूँगा, जो मेरे दुर्दिनों में मेरे सहायक बने और जिन्होंने मुझे पाल-पोसकर, लिखा-पढ़ाकर आदमी बनाया?

मेरे ही सामने यह म्लेच्छ मेरी जाति को गालियाँ दे रहा है, यह देख मुझे घोर सन्ताप हुआ। बड़ा ही क्रोध

आया, पर पराधीन आदमी का स्वाभिमान पेट की ओर दृष्टि जाते ही काफ़ूर हो जाता है। मैंने उनसे पूछा—हुज़ूर, आप क्या कह रहे हैं, मेरी समझ में नहीं आया।

साहब कुछ मुस्कराकर बोले—तुम्हारी समझ में आएगा ही क्यों! यदि तुम्हारी समझ—तुम्हारी बुद्धि—इतनी तीव्र होती, तो फिर मैं ईसाई ही क्यों होता? अच्छा बैठ जाओ, कब तक खड़े रहोगे?

आज्ञा पाते ही मैं बेञ्च पर बैठ गया और मन ही मन सोचने लगा—आज इन्हें हो क्या गया है? ऐसी बे-सिर-पैर की बातें तो ये कभी न करते थे। इन्हें ईसाई होना था, हो गए; इसमें मेरा या हिन्दू-समाज का क्या दोष?

कुछ ठहरकर साहब ने मुझसे पूछा—क्यों पण्डित, यदि इस बेञ्च पर कोई भङ्गी या बसोर आ बैठे, तो तुम क्या करोगे?

मैंने सहज ही उत्तर दिया—हुज़ूर! यह भी पूछने की बात है। अव्वल तो मैं उसे यहाँ बैठने ही न दूँगा, और यदि वह बैठ ही जायगा तो मैं उसकी मरम्मत किए बिना न रहूँगा! भङ्गी या बसोर-जैसी अछूत-जाति को मेरे-जैसे कुलीन ब्राह्मण की बराबरी से बैठने का अधिकार ही क्या? समाज में मेरी जो मर्यादा है, वह भङ्गी-बसोर को क्योंकर प्राप्त हो सकती है? हाँ, उसकी मरम्मत कर मैं घर जाऊँगा और अपनी शुद्धि करूँगा।

साहब—आख़िर, तुम उन बेचारों से इतनी घृणा क्यों करते हो? क्या वे मनुष्य नहीं हैं? क्या उनकी छाती में तुम्हारे-जैसा हृदय नहीं है? क्या उन्हें तुम्हारे ही उत्पन्न करने वाले भगवान् ने उत्पन्न नहीं किया है?

मैं—हुज़ूर, इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि उन्हें भगवान् ने उत्पन्न नहीं किया है। भगवान् ने तो यह सारी सृष्टि ही उत्पन्न की है, तब भङ्गी-बसोर कहाँ से आए? उनके भी हृदय होता है, पर भगवान् ने उन्हें नीच-जाति में जन्म दिया है। नीच जातियाँ हमारी सेवा करने के लिए ही उत्पन्न की हैं, हमारे धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने उनकी मर्यादा निश्चित कर दी है। उनकी छाया पड़ने मात्र से ही हम अपवित्र हो जाते हैं और हमें पाप लगता है। इसके लिए हमें प्रायश्चित्त करना पड़ता है। उनकी शोभा, उनका कल्याण इसी में है कि वे अपनी मर्यादा के अनुकूल चलते हुए तन-मन से हमारी सेवा करते रहें। दूसरी बात यह भी है कि शूद्रों के आचार-विचार भा अपवित्र होते हैं, तब हम उनसे क्यों सम्पर्क रक्खें—क्यों न घृणा करें?

साहब—अच्छा, थोड़ी देर के लिए तुम्हारी ही बात सही, पर सब शूद्रों के आचार-विचार तो अपवित्र होते नहीं? बहुत से शूद्रों के आचार-विचार बड़े ही पवित्र देखे जाते हैं। और सभी उच्च-जाति के हिन्दुओं के आचार-विचार पवित्र नहीं होते। बहुत से ब्राह्मण तक ऐसे हैं, जो

चोरी करते हैं, नित्य झूठ बोलते हैं, शराब पीते और व्यभिचार करते हैं। उनमें ब्राह्मणत्व का कोई चिह्न भी नहीं पाया जाता। अब बताओ, ऐसा भ्रष्ट ब्राह्मण अच्छा, या एक पवित्राचारी शूद्र ?

मैं—ब्राह्मण-वंश में जन्म लेने के कारण, एक भ्रष्टाचारी ब्राह्मण भी सौ पवित्राचारी शूद्रों से श्रेष्ठ समझा जायगा। हुज़ूर ! बुरा न मानिए, ब्राह्मण ब्राह्मण ही है, शूद्र शूद्र ही। भला शूद्र भी ब्राह्मण की बराबरी कर सकता है ? और मैं शूद्र को ही ब्राह्मण से अच्छा समझ लूँ तो इससे क्या, समाज तो उसे श्रेष्ठ न मानेगा।

साहब—यही तो तुम लोगों की अन्ध-परम्परा है। तुम लोग अपने हा हाथों अपने धर्मशास्त्रों पर हरताल फेरा करते हो। मनुस्मृति में साफ़ कहा गया है कि जो ब्राह्मण, ब्राह्मण-धर्म का पालन नहीं करता, वह ब्राह्मण नहीं है—वह चाण्डाल से भी गया-बीता है; और चाण्डाल भी पवित्राचारी होने से श्रेष्ठ पद प्राप्त कर सकता है ? अजामिल कौन था ? शबरी कौन थी ? उन्होंने श्रेष्ठ पद कैसे प्राप्त कर लिया ? पर अब तो सभी ओर उलटी गङ्गा बह रही है। तुम लोगों ने केवल अपने स्वार्थ के लिए, केवल अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए, शूद्रों को पशुओं से भी निकृष्ट समझ लिया है, जैसे वे मनुष्य ही नहीं हैं ! फिर भी जब देखो तब धर्मशास्त्रों की दुहाई दिया करते हो। अच्छा, यह

बतलाओ, यदि तुम्हारे मन्दिर में कोई शूद्र ठाकुर जी के दर्शन करने जाना चाहे, तो तुम उसे जाने दोगे या नहीं ?

मैं—हुज़ूर ! लोक-रूढ़ियों में भी तो कुछ न कुछ तात्पर्य होता ही है। शूद्र आरम्भ ही से अस्पृश्य समझे गए हैं, अतएव हम लोग उनसे घृणा करते हैं, यह भाव कैसे मिट सकता है ? रही उनके मन्दिर में जाने की बात, सो यह तो एक असम्भव बात है। जब वे मन्दिर में जायँगे, तब उनके स्पर्श से हम लोग अपवित्र हो जायँगे, मन्दिर भी अपवित्र हो जायगा और इससे ठाकुर जी का घोर अपमान होगा। अछूत लोग स्वयं अपने मन्दिर बनाकर प्रसन्नता से ठाकुर जी के दर्शन कर सकते हैं।

साहब—वाह ! क्या कहना ! भगवान् के दरबार में भी यह छुआछूत का भेद-भाव ? अछूतों की सृष्टि करने से भगवान् अपवित्र नहीं हुए, इससे उनका अपमान नहीं हुआ, परन्तु तुम्हारे मन्दिर में अछूत का चरण पड़ते ही मन्दिर अपवित्र हो जायगा—भगवान् का अपमान हो उठेगा। और क्यों जी, जब अछूत मन्दिर बनाएँगे, उसमें भगवान् को स्थापित कर नित्य ही उनका दर्शन करेंगे, तब तो उनके अपमान की सीमा ही न रहेगी। क्या तुम लोग भगवान् का ऐसा घोर अपमान, और वह भी नित्य देखा करोगे ? इससे तो भगवान् के क्रोध की सीमा ही न रहेगी,

उनकी कोप-दृष्टि से इस निखिल विश्व में प्रलय की लहरें न उठने लगें! तव तुम कहाँ रहोगे?

साहब की इस बात का मुझे कोई उत्तर न सूझ पड़ा, मैं हतप्रभ-सा हो रहा! साहब फिर बोले—तुम लोग ऐसे ही पोच विचारों के कारण अछूतों पर बड़ा अत्याचार करते हो, उनकी छाया पड़ने से तुम अपवित्र हो जाते हो, वे दिन-रात तुम्हारी सेवा करते हैं, फिर भी तुम उनसे घृणा करते और उन्हें जली-कटी सुनाते रहते हो। कुत्ता भले ही तुम्हारे बिस्तर पर आ बैठे, पर एक अछूत तुम्हारे मकान की सीढ़ी पर भी पैर नहीं रख सकता, वे तुम्हारे कुएँ से पानी नहीं ले सकते, तुम्हारे मन्दिर की ओर दृष्टि भी नहीं उठा सकते, आदि कितने ही अत्याचार उनकी सेवा के पुरस्कार हैं। जानते हो, तुम्हारी इस हृदय-हीनता से उनके हृदय पर कितना आघात लगता है, और तुम्हारी कितनी हानि होती है?

मैं—जी नहीं!

साहब—अच्छा सुनो, एक बहुत पुरानी घटना याद हो आई है। किसी छोटे से गाँव में एक बसोर रहता था। उसका टूटा-फूटा घर गाँव के बिलकुल बाहर, एक कोने में था। क्योंकि बसोर-जैसी नीच-जाति का आदमी गाँव के अन्दर ज़्यादा देर तक ठहर भी नहीं सकता, वहाँ घर बनाकर रहना तो एक असम्भव बात है। उसके घर के

पास ही जङ्गल लगा हुआ था। अब तुम जान सकते हो कि जङ्गल के पास ही रहने से बेचारे बसोर के जीवन के दिन कैसी भयप्रद अवस्था में बीतते होंगे ! शाम हुई नहीं कि उसके घर के किवाड़ बन्द हो जाते थे। पास ही जङ्गली पशुओं की हुङ्कार और चीत्कार-ध्वनि हुआ करती थी। मारे भय के उसका परिवार कभी-कभी जागते-जागते, काँपते-काँपते रात बिता देता था। इस भारतवर्ष की अछूत जातियाँ नगरों और गाँवों के बाहर निर्मल वायु में, भय की कितनी साँसें लिया करती हैं—कौन सहृदय इस बात का पता लगाता है ! वे किस प्रकार अपनी रातें बिताया करती हैं, यह वे ही बतला सकती हैं। अस्तु—

बसोर का परिवार बहुत छोटा था। उसमें केवल तीन आदमी थे, पति-पत्नी और उनका एक आठ-दस वर्ष का बालक। फिर भी उसके दिन बड़ी कठिनाई से कटते थे। उन्हें कभी दोनों समय भरपेट भोजन नसीब न होता था, न कभी अच्छे कपड़े पहनने को मिलते थे। बसोर और उसकी पत्नी पर सारे गाँव की सेवा का भार था। बसोर गाँव में शुभ-कार्यों के अवसर पर बाजे बजाने जाया करता था, उसकी पत्नी दाई का काम किया करती थी। इस सेवा के बदले उन्हें प्रत्येक किसान से प्रति वर्ष कुछ बँधा हुआ अनाज मिल जाया करता था ; और वह भी कितनी ही दीन-प्रार्थनाओं पर—कितने ही बार भटकने पर। परन्तु

इतने पर भी पूरा अनाज न मिलता था—दाता उन्हें एक न एक अपराध लगाकर उसमें कुछ न कुछ कमी कर ही देते थे। शुभ अवसरों पर उन्हें कभी-कभी फटे-पुराने कपड़े भी दे देते थे। कोई-कोई दयालु दाता चार-छः पैसे भी दान करने की उदारता दिखला देते थे! फ़ुरसत के समय बसोर सूप, टोकरी, पङ्खे, चटाई आदि वस्तुएँ बनाया करता था। इस कार्य से कभी-कभी उसे चार-छः रुखी-सूखी और बासी-तिवासी रोटियों की आमदनी हो जाया करती थीं। इस थोड़ी-सी आमदनी से वे अछूत-दम्पति अपनी गृहस्थी बड़ी कठिनाई पर शान्ति और सन्तोष से चलाते और भगवान् से अपने दाताओं के लिए आशीर्वाद की प्रार्थना किया करते थे।

एक बार की बात सुनो। गरमी के दिन थे, गाँव के मालगुज़ार के बेटे की शादी थी। बसोर को उनके यहाँ बाजा बजाने के लिए जाना पड़ा। ग़रीब की आशा ठहरी और मालगुज़ार का भय। सरकार के यहाँ से अच्छी आमदनी होगी, इस आशा से बेचारा उनके द्वार पर दिन-भर धूप में बैठ-बैठा बाजा बजाता रहा, पर उसकी आशा उसे घातक हो गई, बेचारे को लू लग गई। शाम होते-होते उसे बुख़ार आ गया। वह घर आते ही चटाई पर आ गिरा। सबेरा हुआ, बसोर मालगुज़ार के यहाँ न पहुँचा। बस, उनका एक चपरासी साक्षात् यमदूत के

समान उसके यहाँ आ धमका और गरजकर बोला—क्यों रे कमीने! तेरा इतना दिमाग़, तू अब तक बाजा लेकर न आया! वहाँ कब से तेरी बाट देखी जा रही है!

उस समय बसोर को ज़ोर से बुख़ार चढ़ा हुआ था, मारे दर्द के उसका सिर फटा जा रहा था, आँखें लाल हो रही थीं। उसने बड़ी ही दीनता से चपरासी से कहा—सरकार! मैं मारे बुख़ार के मरा जा रहा हूँ, नहीं तो मैं अब तक बिना बुलाए ही पहुँच गया होता! मुझमें चलने की भी हिम्मत नहीं है।

कमीन सच भी कहे, तो उसकी कौन मानेगा, कमीन ही ठहरा न! बसोर की बात सुनते ही चपरासी के क्रोध का ठिकाना न रहा। बिगड़कर बोला—साले, मैं ख़ूब जानता हूँ, तू नम्बर एक का बदमाश है! शराब पी आया होगा और क्या! अब बहाने बनाता है! चलता है कि नहीं?

बसोर कितना ही रोया-गिड़गिड़ाया, उसकी पत्नी ने कितनी ही करुण-प्रार्थनाएँ कीं, पर वह ठहरा मालगुज़ार का चपरासी! दीनों की प्रार्थनाओं से यदि मालगुज़ारों के चपरासियों के हृदय पिघलने लगें तो फिर उनका राज्य ही क्या रहे? मतलब यह कि दम्पति की पुकार व्यर्थ ही गई। बसोर आँखों में आँसू भरकर चपरासी के साथ चला गया। उसने मालगुज़ार को जब कई बार अपना

दुखड़ा सुनाया, तब उन्होंने अपने सेवकों को आज्ञा दी— इस बदमाश को गाँव में किसने बसने दिया? इसे यहाँ से निकाल बाहर करो और निकालते-निकालते इतनी मार लगाओ कि यह भी याद करे कि किसी से बदमाशी की थी।

अब बसोर क्या करता? जान पर खेलकर शाम तक बाजा बजाता रहा। दिया-बत्ती होते-होते लड़खड़ाता हुआ घर लौटा। द्वार पर पहुँचते-पहुँचते उसे चक्कर आ गया और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। फिर उसे होश न आया। आधी रात होते-होते उसकी जीवन-ज्योति बुझ गई। उसकी पवित्र आत्मा अछूत का शरीर त्याग, न जाने किस पावन-प्रदेश को चली गई। बेचारे की पत्नी विधवा और निराश्रय हो गई, बालक अनाथ हो गया। माँ-बेटे ने जङ्गल के अञ्चल में बैठकर वह काल-रात्रि कैसे व्यतीत की होगी! उफ़!

प्रातःकाल हुआ। चिड़ियाँ चूँ-चूँ करने लगीं, ठण्ढी-ठण्ढी हवा बहने लगी, विश्व ने नवीन जीवन पाया। ऐसे आनन्दमय समय में विधवा बसोरिन ने बिलखता हुआ हृदय लेकर घर का द्वार खोला। इस समय उसके सामने केवल पति के शव को ठिकाने लगाने का प्रश्न था! पास में पैसा नहीं है, सारा गाँव उसे अपवित्र, अस्पृश्य समझता है, उसके पति का शव कैसे ठिकाने लगेगा? उफ़! अछूत

का जीवन-पथ कैसा कण्टकाकीर्ण है ! मरने पर भी उसका ठिकाना नहीं है ! उसके लिए मरण, जीवन से भी कठिन है ! उस गाँव के दूसरे कोने में एक और बसोर रहता था। विधवा बसोरिन पति के शव के पास अपने अज्ञान भोले-भाले बच्चे को बिठाकर उसके पास गई। वह उससे बोला—बहिन, तुम्हारे ही जैसा दुखिया और अभागा मैं भी हूँ। मैं अकेला आदमी क्या करूँ? तुम मालगुज़ार के पास चली जाओ। अच्छा, मैं भी चलता हूँ। शायद तुम्हारे दुख पर उन्हें दया आ जाय और वे कुछ बन्दोबस्त कर दें !

बसोरिन उस बसोर के साथ मालगुज़ार के यहाँ पहुँची। उस समय मालगुज़ार दालान में बैठा हुआ हुक़्क़ा गुड़गुड़ा रहा था। उसे देखते ही बसोरिन चीख़ मारकर रो पड़ी। बोली—सरकार, मैं लुट गई ! विधना ने मेरा सुहाग छीन लिया।

मालगुज़ार था पूरा पशु, उसके हृदय में दया-मया का एक कण भी न था। बिगड़कर बोला—तू लुट गई तो मैं क्या करूँ ? मैं तो तेरा सुहाग लौटा नहीं सकता। राँड सबेरे-सबेरे यहाँ अपशकुन करने आ पहुँची !

बसोर ने हाथ जोड़कर उससे प्रार्थना की—सरकार ! आप सच कहते हैं, कोई किसी का सुहाग नहीं लौटा सकता। जिसके भाग्य में जो बदा होता है, उसे कौन मेट

सकता है ? अब आप दया करके ऐसा प्रबन्ध कर दीजिए, जिससे उस बेचारे की लाश ठिकाने लग जाय !

मालगुज़ार और भी तीखा होकर बोला—अच्छा, तो क्या मैंने तुम्हारे बाप का क़र्ज़ खाया है ? मेरे किए कुछ न हो सकेगा ! जाओ, अपनी राह लो !

बेचारा बसोर दूसरे के लिए हाथ जोड़, कातर स्वर से; उस नराधम से कहने लगा—नहीं सरकार, ऐसा न कहिए ! आप हमारे माई-बाप हैं । हम आपके राज्य में रहते हैं । आप ही हमारा दुख न सुनेंगे, तो कौन सुनेगा ? आप ही हमारी सहायता न करेंगे, तो कौन करेगा ? परन्तु उस पाषाण-हृदय पर इस कातरोक्ति का कोई प्रभाव न पड़ा ।

वह गरजकर बोला—एक बार तो कह दिया, मेरे किए कुछ न हो सकेगा ! सीधे-सीधे जाते हो या नहीं ?

बसोरिन न मानी, वह विलाप करते-करते लोट गई और मालगुज़ार से बोली—पिता ! मैं आपकी बेटी हूँ, मुझ पर दया कीजिए !

अब तो मालगुज़ार का क्रोध और भी भड़क उठा । कहने लगा—हाय-हाय ! आज सबेरे-सबेरे ऐसा अपशकुन, और ऊपर से इतनी चिल्ल-पों ! इन कमीनों ने तो मेरी जान ही खा डाली ! अब तो इनकी शरारतें नहीं सही जातीं । क्या इस गाँव में अकेला मैं ही रहता हूँ, जो तुम सीधे

मेरे यहाँ आ पहुँचे? कोई है, इन सालों को अभी मारकर हटा दो।

जब यह हाल देखा तो बेचारे दोनों वहाँ से आगे चले। गाँव में जो और दो-चार भले आदमी समझे जाते थे, वे उन सबके यहाँ पहुँचे। किसी ने आँखें दिखलाईं, किसी ने तिरस्कार किया और किसी ने गालियाँ सुनाईं, पर अपने को श्रेष्ठ समझने वाले उन भले आदमियों में से एक भी ऐसा न निकला, जो सहायता न करता तो न करता, उस दुखिया से सहानुभूति से भरी दो मीठी बातें तो करता! यह है तुम्हारे पवित्र हिन्दू-समाज की उच्चतर करतूत, जो अपने ही लोगों के साथ ऐसा घृणित व्यवहार करता है! उस बसोर ने जीवन-भर उस गाँव की, हिन्दू-समाज की सेवा की थी। उसी की सेवा करते-करते उसने अपने आपको बलिदान कर दिया था। क्या हिन्दू-समाज का यह कर्त्तव्य न था कि अपने एक सच्चे सेवक की मृत्यु पर वह दो ठण्डी साँसें लेता, आदर से उसके शव की अन्तिम क्रिया करता और उसकी विधवा पत्नी को स्नेह से सान्त्वना देता? पर नहीं, हिन्दू-समाज इसी कर्त्तव्य-च्युति को कर्त्तव्य-पालन समझता है और इसी में आनन्द मानता है। यह भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जहाँ मनुष्य का आसन पशु से भी निकृष्ट है और जहाँ का हिन्दू-समाज अपने एक आवश्यक अङ्ग को घृणित समझकर उसकी उपेक्षा ही नहीं

करता, बल्कि उसके जीवन में उसे रुलाता और मरने पर भी उसके शव का अपमान करता है। ज़रा तुम्हीं हृदय पर हाथ धरकर तो कहो, बसोरिन के दुख से दुखी होने वाला, उसके लिए अपना अपमान कराने वाला, वह नीच बसोर श्रेष्ठ था या अपने को श्रेष्ठ समझने वाले वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य श्रेष्ठ थे, जो उसका दुख देखकर हँसते और उसका अपमान करते थे। अस्तु—

अब बेचारी बसोरिन को चारों ओर अँधेरा दीखने लगा। पति का शव कैसे श्मशान में पहुँचाया जायगा, कैसे वह जलाया जायगा—यह सोचती-सोचती वह व्याकुल हो उठी और उस बसोर से बोली—भैया, अब मैं क्या करूँ ? क्या इनकी यह मिट्टी योंही पड़ी रहेगी ?

बसोर ने कहा—बहिन, घबराने से क्या होगा ? भगवान् ही हम दुखियों की लाज रखने वाले हैं। उन्हें आप हमारी चिन्ता होगी। मैं घर जाता हूँ, जितना ईंधन होगा, लिए आता हूँ। तब तक तुम भी कुछ बन्दोबस्त करो।

बसोरिन के घर में जितना ईंधन था, उसने निकालकर बाहर रख दिया। बसोर भी दो-तीन बार करके अपने घर का कुल ईंधन उठा लाया, पर वह इतना नहीं था, जिससे मुर्दा फुँक जाता। तब बसोरिन ने अपने घर का आधा छप्पर भी निकलवा डाला। इसके बाद दोनों ने सब काठ-किवाड़ ढो-ढोकर मरघट में पहुँचाया। फिर

दोनों जैसे-तैसे शव को श्मशान में ले गए और किसी प्रकार उसे ठिकाने लगाया। परिडत, ज़रा सोचो तो, उस दुखिया विधवा पर उस समय कैसी बीत रही होगी! एक तो उसका पति जाता रहा, दूसरे गाँव वालों ने सहायता के बदले उसका अपमान किया, तीसरे शव की अन्तिम क्रिया के लिए उसे इतना परिश्रम—इतना आयोजन करना पड़ा; यहाँ तक कि उसका घर भी ठिकाने लग गया, चौथे उसका छोटा-सा बालक भूखा-प्यासा उसके पीछे बिलबिलाता फिरता रहा होगा। उफ़! वह दृश्य कितना मर्मघातक रहा होगा! मनुष्य पर ऐसा दुख पड़े और मनुष्य अपनी श्रेष्ठता के थोथे अभिमान में फूलकर वह करुणार्द्र दृश्य देखता रहे! कैसी पैशाचिकता है, कितनी हृदय-हीनता है! यही तुम्हारे हिन्दू-समाज की श्रेष्ठता है! क्यों न?

इतना कहते-कहते साहब चुप हो गए। उनकी आँखें सजल हो आईं। दो अश्रु-विन्दु कपोलों पर ढलक आए! उनके मुखड़े पर ऐसी कोमलता—ऐसी विषादमयी छाया मैंने कभी न देखी थी! मैं एकटक उनकी ओर देखने लगा। कुछेक क्षण चुप रहकर साहब पुनः बोले—परिडत, अपने समाज की यश-गाथा और सुनोगे? अच्छा सुनो, यह करुण-कथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अभी तुम और भी करुणाजनक दृश्य देखोगे। हाँ, तो गाँव वालों की

इस क्रूरता से वह दयालु और दीन बसोर विशेष मर्माहत हुआ। वह दूसरे दिन बसोरिन के पास आकर बोला—बहिन! अब इस गाँव में रहने का धर्म नहीं रहा। गाँव वालों की सज्जनता तुम देख ही चुकीं। यहाँ अपनी जाति का कोई है नहीं। कल को मर जाऊँगा तो मेरी लाश कौवे-कुत्ते चीथेंगे, सो अब तो मैं यहाँ न रहूँगा। आज ही यहाँ से दूसरी जगह जाऊँगा। तुम भी यहाँ न रहना! इससे तो जङ्गल में रहकर भूखों मर जाना अच्छा। वहाँ हमें देखकर कोई नाक-भौं तो न सिकोड़ेगा, कोई हमें बिना अपराध के गालियाँ तो न देगा।

अपने सुहृद की यह आकुल वाणी सुन, बसोरिन बिलख-बिलखकर रोने लगी और बोली—भैया! जाओ, ऐसे भलेमानुसों में हम लोगों का न रहना ही अच्छा। मैं बच्चे को लेकर कहाँ जाऊँगी, मेरी लाज तो भगवान् के हाथ है।

बसोर की आँखें भर आईं, वह बेचारा दुखी होकर बोला—बहिन, मैं ही तुम्हें अपने साथ ले चलता, पर अभी यही ठीक नहीं है कि मैं कहाँ का मारा कहाँ जाऊँगा। यदि कहीं मेरे रहने-सहने का सिलसिला जम गया, तो मैं तुम्हें भी वहीं बुला लूँगा।

इस प्रकार बसोर उसे समझा-बुझाकर चला गया, फिर उसे किसी ने गाँव में न देखा। बहुत दिन बाद पता

चला कि वह सात समुद्र पार फ़िज़ी में पहुँच गया है और वहाँ आनन्द-पूर्वक रहता है।

अब बसोरिन और उसके बेटे का हाल सुनो। पति के मरने से वह बड़ी ही दुखिया हो गई थी, अब उसका पुत्र ही उसका एकमात्र आधार था। वह उसकी आँखों का तारा था, उसकी आशाओं का केन्द्र, उसके सुख का अवलम्ब केवल वही पुत्र था। पति के मरने से उसकी आमदनी घट गई थी, तो भी उसकी बड़ी अभिलाषा रहती थी कि मेरा लाल दुखी न होने पाए। वह आप न खाकर पुत्र को खिलाती थी, वह अपने बेटे पर जान देती थी। उसके बेटे का नाम था दमरू। माता के लाड़-प्यार से दमरू कुछ स्वच्छन्द हो गया था। रोटी खाई नहीं कि बाहर चला गया। माता भी उससे कुछ न कहती थी।

मालगुज़ार के घर के पिछवाड़े बेर के कई वृक्ष लगे हुए थे। मीठे-मीठे बेर खाने के लालच से दमरू वहाँ बहुत जाता था। मालगुज़ार का एक सात-आठ वर्ष का बालक भी बेर बीनने आया करता था। बालक अबोध होते हैं, वे छुआछूत का भेद-भाव नहीं समझते। दमरू वृक्ष पर चढ़ जाता और डालियाँ हिला देता, पड़ापड़ बेर बरसने लगते। मालगुज़ार का बालक बेर बीनता, फिर दोनों मिल-बाँट कर खाते। धीरे-धीरे दोनों में बड़ा प्रेम हो गया। दोनों एक-दूसरे की तलाश में रहते और जब मिलते तो

बहुत प्रसन्न होते। एक दिन मालगुज़ार ने दोनों मित्रों को देख लिया। मालगुज़ार साहब को बड़ा अफ़सोस हुआ, साथ ही क्रोध भी आया। उसने अपने बेटे को दो चपतें जमाईं और उससे कहा—ख़बरदार, जो अब इस नीच के साथ रहा। दमरू अछूत था, इसलिए बच गया; पर मालगुज़ार ने उसे भी सचेत कर दिया—ख़बरदार! आगे से इधर न आना, नहीं तो चमड़ी उधेड़वा लूँगा।

मालगुज़ार ने ताकीद तो पूरी कर दी, पर बालक रसीले बेरों का स्वाद चखने का लालच नहीं त्याग सकते, चाहे तुम उन्हें रोको, धमकाओ, चाहे मारो। दोनों मित्र फिर भी मिलते रहे।

गाँव में एक छोटा-सा मन्दिर भी था, जिसमें कभी-कभी भजन-कीर्त्तन हुआ करता था। एक दिन मालगुज़ार के लड़के ने दमरू से कहा—आज मन्दिर में ख़ूब जलसा होगा, पूजा होगी और प्रसाद में पेड़े बँटेंगे, तुम भी मेरे साथ चलो।

पेड़े का नाम सुनते ही दमरू नाच उठा। वह बेचारा नहीं जानता था कि मेरे जाने से मन्दिर अपवित्र हो जायगा और मुझ-जैसे अपवित्र जीव के भाग्य में भगवान् का प्रसाद पाना लिखा ही नहीं है। ताली पीटता हुआ वह मन्दिर में जा पहुँचा। उसे देखते ही मन्दिर में हलचल मच गई। नीच है, बसोर है, कहते हुए सब लोग अपनी

पवित्रता की रक्षा करने के लिए व्याकुल हो उठे। लोगों की वह हलचल देख, दमरू भौंचक-सा खड़ा रह गया। बेचारा क्या जानता था कि मुझे देखते ही ये लोग घोर धर्म-सङ्कट में पड़ गए हैं। लोगों की हलचल देखते ही पुजारी जी घबरा उठे और ज्योंही दमरू पर उनकी दृष्टि पड़ी, त्योंही वे अपना आपा भूल गए, मारे क्रोध के बौखला उठे, उनके मस्तिष्क से पवित्रता-अपवित्रता के विचार जाते रहे। हे भगवन्! कलियुग में कमीनों के हौसले इस तरह बढ़ रहे हैं, हम लोगों की लाज तुम्हारे ही हाथ है। यह कहते हुए वे दमरू पर टूट पड़े। उन्होंने दमरू को इस तरह मारा कि कोई पशु को भी न मारता होगा। जिस भगवान् के दरबार में सभी एक बराबर हैं, उसी भगवान् के दरबार में प्रसाद पाने की आशा से गया हुआ दमरू पिटते-पिटते मुँह के बल गिर पड़ा। हिन्दू लोग अहिंसा की बड़ी दुहाई दिया करते हैं। छोटे-छोटे कीड़ों पर अवश्य दया कर सकते हैं, पर उनके हृदय में—विशाल और करुणार्द्र हृदय में—साक्षात् मनुष्य-शरीरधारी अछूतों के लिए दया का एक भी कण लेष नहीं है, और वह केवल इस कारण कि अछूत, अछूत हैं—अपवित्र हैं, उनके स्पर्श-मात्र से हिन्दुओं की धर्म-नौका अधर्म के तूफ़ान में जा पड़ती है। अस्तु—

प्रसाद के बदले मार पाकर दमरू रोता-कराहता घर

पहुँचा। माता अपने लाल की वह दशा देख, अस्थिर हो गई, उसने दमरू को गोद में लेकर बड़े स्नेह से पूछा—बेटा, क्या हुआ ?

बिलखते हुए दमरू ने उसे सब हाल सुना दिया ! सुनकर माता की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने दमरू का मुँह चूमकर कहा—बेटा, तुम वहाँ क्यों गए थे ? वहाँ तुम्हें न जाना चाहिए।

दमरू बोला—माँ ! क्यों न जाना चाहिए ? वहाँ तो सभी जाते और ठाकुर जी के दर्शन करते हैं। तुम रोती क्यों हो ?

माता ने उत्तर दिया—बेटा, वे जा सकते हैं, पर हम नहीं जा सकते, क्योंकि हम अछूत हैं।

दमरू माता की बात न समझ सका, बड़े आग्रह से बोला—माँ, अछूत किसे कहते हैं ? हममें-उनमें क्या अन्तर है ? मुझे तो कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, केवल मेरे कपड़े ही ख़राब हैं, सो वहाँ बैठे हुए कई लड़के भी तो ख़राब कपड़े पहने हुए थे।

माता इस प्रश्न का क्या उत्तर देती ? उसने केवल रो दिया। तब दमरू बोला—अच्छा माँ, तुम रोओ नहीं, अब मैं कभी मन्दिर में न जाऊँगा।

दमरू मन्दिर में गया था, इस अपराध पर पुजारी जी उसे कठोर दण्ड दे चुके थे; पर गाँव वाले इतने से ही

शान्त न हुए। उन्होंने बड़ा वावेला मचाया। मालगुज़ार से शिकायत की गई। मालगुज़ार ने बसोरिन को बुलवाया। सभी लोग मारे क्रोध के पागल हो रहे थे। कुशल इतनी ही थी कि वह अछूत थी, नहीं तो वे न जाने क्या कर डालते। बेचारे उसे भाँति-भाँति की गालियाँ सुनाकर ही रह गए। बसोरिन ने उनसे हाथ जोड़कर विनती की—महाराज, वह अबोध बालक है, क्या जाने कि उसे मन्दिर में जाना चाहिए या नहीं। मैंने तो उससे कह नहीं दिया था। बच्चे का यह अपराध क्षमा कर दीजिए, आगे से ऐसा न होगा।

उन लोगों से छुट्टी पाकर उसने दमरू से कहा—देखो बेटा, अब कभी न जाना। घर ही खेला करो। यदि कहीं जाओगे और कोई उलहना देगा—तो मैं तुम्हें बुरी तरह पीटूँगी।

बेचारा दमरू डर गया। उस दिन से वह कहीं न आता-जाता था। माँ भी उस पर विशेष देख-रेख रखती थी, परन्तु बच्चे बन्धन में छटपटाने लगते हैं! कुछ दिन बाद ही दमरू की इच्छा यहाँ-वहाँ घूमने-फिरने की होने लगी। एक दिन वह अवसर पा, निकल खड़ा हुआ। खेलते-खेलते दमरू को प्यास लगी। उस समय कुएँ पर दो-चार स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। पानी पीने की आशा से दमरू कुएँ पर जा पहुँचा। उसने एक स्त्री से पानी माँगा,

परन्तु वे उसे पानी के बदले गालियाँ देने लगीं। उन्होंने अपने-अपने घड़े पटक दिए। यह देख दमरू भौंचक-सा रह गया। पहले के समान ही फिर कोई आफ़त न आ जाय—यह सोच बेचारे के प्राण काँप उठे। वह भागकर घर में जा छिपा।

इस बार गाँव में पहले से भी ज़्यादा कोलाहल मचा। शीघ्र ही मालगुज़ार के यहाँ बसोरिन की बुलाहट हुई। वह गरज कर बसोरिन से बोला—अरी राँड, तू बहुत बदमाश हो गई है, तूने ही लड़के को सिर पर चढ़ा रक्खा है। आज उसने कुँआ अपवित्र कर डाला। अब लोग कहाँ पानी पिएँगे?

बसोरिन ने यह सुना तो बेचारी के प्राण सूख गए। हाथ जोड़कर बोली—माई-बाप! मैं तो हमेशा उसे आँखों के सामने रखती हूँ और डाटा करती हूँ—आज वह नज़र बचाकर निकल गया।

मालगुज़ार उसी प्रकार बिगड़कर बोला—मैं तुझे ख़ूब जानता हूँ, मुझी से बात बनाती है! तू यों न मानेगी, यह कहकर उसने अपने एक चपरासी को आज्ञा दी—कमीन की जाति यों नहीं मानती, ज़रा इसे ठीक तो कर दो। कुछ हर्ज नहीं, पीछे स्नान कर डालना।

यह सुनते ही चपरासी उस अबला पर टूट पड़ा। बेचारी कितनी रोई-गिड़गिड़ाई, पर उसके करुण-क्रन्दन

से किसी का हृदय न पसीजा। कहो पण्डित! यह तुम्हारे आदर्श-समाज के अहिंसा-व्रत का कैसा सुन्दर उदाहरण है! हिन्दू-पुरुषों की वीरता केवल अपने ही लोगों को सताने में—अबलाओं को आठ-आठ आँसू रुलाने में ही रह गई है। अस्तु—

बसोरिन रोती-बिलखती घर पहुँची। उसने विकराल रूप धारण कर बालक से पूछा—तू कुएँ पर क्यों गया था? मारे डर के बेचारा थरथर काँपने लगा, आँखों में आँसू भरकर बोला—माँ, प्यास लगी थी। सभी तो जाते हैं, इसी से मैं भी चला गया। वहाँ दो-तीन लड़के और थे। उनसे तो कोई कुछ नहीं कहता।

माँ ने बच्चे के इस भोलेपन पर कुछ ध्यान न दिया। अपमान और क्रोध से उसका हृदय जल ही रहा था, बच्चे का उत्तर सुनते ही वह अपने को न रोक सकी, उसने बच्चे को पीटना शुरू कर दिया। बच्चा 'नहीं माँ, नहीं माँ' कहता उसके पैरों से लिपट गया, पर उसका हाथ न रुका। अन्त में बच्चा भूमि पर गिर पड़ा। रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई। बच्चे की यह दशा देख, माता का हृदय भीतर ही भीतर मथा जाने लगा। उसने बच्चे को गोद में उठा लिया और वह उसे हृदय से लगाकर आप भी फूट-फूटकर रोने लगी। माता और पुत्र न जाने कब तक रोते रहे। उस दिन बसोरिन के यहाँ चूल्हा न

जला—माता और पुत्र दोनों ही भूखे पड़ रहे। तुम्हारे हिन्दू-समाज के इन निर्मम, घोर अत्याचारों से कितने दीन-दुखियों के यहाँ करुण-क्रन्दन होता है, कितने भूखे-प्यासे तड़प-तड़पकर रात-दिन बिता देते हैं—इसका पता कौन लगाने जाता है? उफ़! इन दुखियों की सर्द आहें तुम्हें कब तक सुख की नींद सोने देंगी? वह समय दूर नहीं है, जब तुम्हें अपनी इस पैशाचिकता का प्रायश्चित्त रक्त के आँसू वहाकर करना पड़ेगा।

उस दिन से बसोरिन विशेष चिन्ताकुल रहने लगी। वह सदैव यही सोचा करती थी—मैं इन धर्म-ध्वजियों के बीच में रहती हूँ, जिनका धर्म मेरी छाया-मात्र से मृत्यु की साँसें लेने लगता है। यहाँ न मेरी जाति का ही कोई आदमी है, न कोई सहायक ही है; तब ऐसे लोगों के बीच में रहने से मेरा जीवन-वेड़ा कैसे पार होगा? अबोध बच्चा अनजान में ज़रा-सा भी अपराध कर देता है तो ये लोग जान लेने पर उतारू हो जाते हैं। उससे दो बार अपराध हो चुका है, अब कहीं फिर वह कोई अपराध कर बैठा, तो ये लोग न जाने क्या कर बैठेंगे? हे भगवन्! तुम्हीं मेरे बच्चे पर दया-दृष्टि करो।

अन्त में भगवान् ने उसकी कातर-वाणी सुन ली। कुछ ही दिन पीछे गाँव में दो मिश्नरी मेमें आईं। उन्होंने गाँव की स्त्रियों को भगवान् ईसा का सँदेशा सुनाया।

बसोरिन ने भी उनका उपदेश सुना। उनकी दयालु प्रकृति से बसोरिन को बड़ी आशा हुई। उसने मेमों को अपना सब दुखड़ा सुनाया। दयालु मेमों की आँखें भर आईं। उन्होंने बसोरिन से कहा—मसीह दुखियों का ही दुख दूर करने को संसार में आया था। तुम लोग हमारे साथ चलो, मसीह तुम पर दया करेगा।

बसोरिन हर्षोत्फुल्ल हो बेटे को ले, मेमों के साथ चली गई। अब उसके जीवन की धारा दूसरी ही दिशा में बहने लगी। उसने एक नए संसार में प्रवेश किया, जहाँ न कोई बड़ा था न छोटा ; न ऊँच था न नीच—सभी बराबर थे। सभी को सबके सुख-दुख की चिन्ता लगी रहती थी। यहाँ बसोरिन को कोई खरी-खोटी सुनाने वाला न था, सभी उससे अपने आत्मीय-जैसा व्यवहार करते थे। अब वह अच्छे कपड़े पहनती थी, अच्छे भोजन पाती थी। यहाँ सभी उसके प्यारे बेटे पर प्यार करते थे, कोई उससे घृणा न करता था। वह भी अच्छे कपड़े पहनता और अच्छा भोजन पाता था। खेलने को उसे सुन्दर खिलौने मिलते थे। वह खुले मैदान में, निर्मल वायु में, स्वाधीनतापूर्वक चिड़ियों की नाईं फुदकता फिरता था। जिसे चाहे उसे छू लेता था, चाहे जिससे लिपट जाता था। क्या बँगले में, क्या गिरजे में, जहाँ चाहता वहीं चला जाता था। पर इससे न तो कोई आदमी ही अपवित्र होता था और न

कोई मकान ही। सचमुच ही उन दुखियां—माँ-बेटे पर मसीह ने दया की। अच्छा पण्डित, बतलाओ इन दो आदमियों के ईसाई हो जाने से तुम्हारी क्या हानि हुई ?

मैंने कहा—हुज़ूर, उनसे किसी ने ईसाई होने को तो कहा नहीं था। वे अपनी इच्छा से ईसाई हो गए तो कोई क्या करे ? इससे मेरी या हिन्दू-समाज की हानि ही क्या है ?

इस पर साहब बड़े तपाक से बोले—यह सत्र है कि उनसे किसी ने ईसाई हो जाने को नहीं कहा था, पर तुम्हारे हिन्दू-समाज ने उनसे ऐसा निर्मम व्यवहार किया था कि उनके सामने सिवा ईसाई या मुसलमान हो जाने के जीवन-रक्षा के लिए अन्य उपाय ही न था। यदि अछूतों के साथ तुम्हारी यही हरकतें रहीं, तो वह दिन दूर नहीं है, जब सब अछूत हिन्दू-धर्म की शरण त्याग, अन्य धर्मों के आश्रय में जा बसेंगे। इससे हिन्दू-समाज में बड़ी ही विश्रृङ्खलता उत्पन्न हो जायगी। उस दिन क्या तुम्हीं पाख़ाना साफ़ करोगे ? क्या तुम्हारी ही स्त्रियाँ दाई का कार्य करेंगी ? क्या तुम्हीं धोबी का कार्य करोगे ? क्या चमारों का सब कार्य तुम्हीं कर डालोगे ? अभी वे तुम्हारे साथ हैं, इसलिए वे तुम्हें बुरे लगते हैं। जब वे तुमसे दूर हो जायँगे, तब तुम्हीं उनके लिए आठ-आठ आँसू रोओगे, और जब वे तुमसे अलग हो जायँगे, तब वे ही तुम्हारे

शत्रु—घातक शत्रु बन बैठेंगे। अभी वे तुम्हारे साथ हैं, इसलिए तुम २२ करोड़ हो, उनके अलग होते ही तुम केवल पन्द्रह करोड़ रह जाओगे। केवल अपनी नादानी से—अपनी कुलीनता के झूठे पाखण्ड में आकर तुम अपना इतना भारी अंश दूर किए देते हो। सोचो, सात करोड़ मनुष्यों का बल और सहारा कितना होता है! यदि तुम उनके साथ प्रेमपूर्ण और मनुष्यता का व्यवहार करोगे तो वे तुम्हारे पसीने के बदले अपना ख़ून बहाने को तैयार रहेंगे। सोचो, ऐसे भारी बल को ज़बरदस्ती त्याग देने से तुम कितने निर्बल हो जाओगे! अच्छा पण्डित, एक बात और बताओ! वही ईसाई हुआ दमरू बसोर तुम्हारी बराबरी से आ बैठे, तो तुम उससे घृणा करोगे या नहीं?

मैंने उत्तर दिया—मैं क्यों उससे घृणा करूँगा? कोई भी तो ईसाइयों से घृणा नहीं करता।

साहब हँसकर बोले—बलिहारी है तुम लोगों की बुद्धि की! पहले उससे घृणा करते थे, क्यों? क्योंकि तब वह हिन्दू था और तुम्हारे ठाकुर जी को श्रद्धापूर्वक मस्तक झुकाता था। और अब उससे घृणा नहीं करोगे, क्योंकि अब वह हिन्दू नहीं है और तुम्हारे ठाकुर जी को घृणा की दृष्टि से देखता है! राम-भक्त के स्पर्श से तुम्हारा धर्म डगमगाने लगता है और राम के विरोधी के चरण चूमने पर भी तुम्हारा धर्म पवित्र और अचल रहता है! कैसी

मूर्खता है ! आह, तुम लोग आँखें रहते हुए भी अन्धे हो रहे हो ! पण्डित, महात्मा ईसा की शीतल छाया में दमरू की यथेष्ट उन्नति हुई और आज वह टॉमस नाम लेकर, तहसीलदार के रूप में तुम्हारा स्वामी बना बैठा है ! जिस दमरू को देखकर एक दिन हिन्दू-समाज का ख़ून ठण्ढा पड़ जाता था, आज उसी दमरू के सामने बड़े-बड़े धर्म-धुरीण हाथ बाँधे खड़े रहते हैं, जिनमें से एक तुम हो। बोलो, अब भी अछूतों से घृणा करोगे ?

यह सुनते ही मैं सन्नाटे में आ गया ! पहले तो मुझे साहब की बात दिल्लगी मालूम हुई, पर शीघ्र ही मेरी समझ में सब बातें आ गईं। मेरी आँखों के सामने से एक पर्दा-सा हट गया। आज मुझे मालूम हुआ कि हम अछूतों पर अत्याचार क्या कर रहे हैं, अपनी ही जड़ पर वज्र-प्रहार कर रहे हैं ! मैंने उसी समय साहब के सामने प्रतिज्ञा की—अछूत मेरे भाई हैं। मैं उनसे कभी घृणा न करूँगा, उनसे प्यार करूँगा, उनके सुख-दुख में सम्मिलित होना अपना कर्त्तव्य समझूँगा और अपने अन्य भाइयों को भी यह कर्त्तव्य पालन करने के लिए विवश करूँगा।
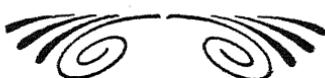
## दहेज की अग्निमय प्रथा

अग्नि और उत्ताप में जो सम्बन्ध है, आज दिन ठीक वैसा ही सम्बन्ध हिन्दू-समाज और दहेज की कुप्रथा में हो रहा है। यदि समाज अग्नि है, तो दहेज की कुप्रथा [illegible] उत्ताप—भीषण एवं दाहक उत्ताप है। और उस उत्ताप की अग्निमय ज्वाला घोर हाहाकार करके नित्य अनगिनती परिवारों तथा अबोध बालिकाओं को भस्मसात् कर रही है। उफ़! सदियाँ बीत चुकीं, असंख्य अधखिली कलियाँ अपने कुसुम-कोमल शरीर इस उत्ताप की भेंट कर चुकीं; पर आज तक इसकी क्षुधा तृप्त न हुई। यह भी आशा नहीं कि भविष्य में भी होगी या नहीं। दिन-दिन उसकी ज्वाला 'हा-हा' ध्वनि करके ऊँची उठती जाती है, उसकी दाहक शक्ति और भी प्रबल होता जाती है। उसे शान्त करने का कहीं-कहीं यत्न भी किया गया; पर वायु के प्रबल झोंके अग्नि को कब शान्त कर पाते हैं? तो क्या यह दुष्प्रथा हिन्दू-समाज की चिता-

भूमि है ? जान तो ऐसा ही पड़ता है। यह प्रथा अपनी घोर दाहक शक्ति से हिन्दू-समाज के विराट् कङ्काल को क्रमशः भस्मसात् कर देगी; और जब वहाँ थोड़ी-सी चिता-भस्म अवशिष्ट रह जायगी, तब 'धू-धू' करके जलती हुई वह चिताग्नि स्वयं ही शान्त हो जायगी।

मैं यह व्यर्थ रुदन नहीं कर रहा हूँ, न यह पागल का ही प्रलाप है! वास्तव में हिन्दू-समाज में कन्या का जन्म बड़ी ही अशुभ घटना है। कन्या का जन्म हिन्दू-घर में वज्रपात के समान होता है। घर में जीवन के बदले मृत्यु की निराशा झलकने लगती है; और तब लोग आँखें फाड़-फाड़ दूर भविष्य में, अपने सर्वनाश की अट्टहासमयी लीला देखकर व्यग्र हो उठते हैं। कन्या की 'कहाँ-कहाँ' की मधुमयी वाणी में हिन्दू-गृह के सर्वनाश का रहस्यमय सन्देश निहित रहता है, जिसे केवल उसी घर के आदमी समझ पाते हैं, जिसमें कन्या का जन्म होता है; और तब बेचारे मृत्यु की शीतल साँसें लेकर अपने दग्ध-हृदय को शान्त करने की व्यर्थ चेष्टा करने लगते हैं। उस दिन एक नवयुवक ने इस प्रथा की जो कथा सुनाई थी, उसमें कैसी वेदना थी, कैसी लाञ्छना थी, कैसा तिरस्कार था और था हिन्दू-समाज की मृत्यु के एक पहलू का रोमाञ्चकारी और हृदय-वेधी दृश्य! ऐसी संहारकारी लीला देखकर भी हिन्दू-समाज नहीं चेतता। यही आश्चर्य और दुख का विषय

है ! जो जान-बूझकर पाप करता है, उसे कौन रोक सकता है ? और जो जागते हुए भी सोता रहता है, उसे मनुष्य तो क्या, विधाता भी नहीं जगा सकते। आज हिन्दू-समाज की यही स्थिति हो रही है और क्रमशः वह उस ओर जा रहा है, जहाँ विनाश की प्रचण्ड ज्वाला प्रलयकारी ध्वनि करती हुई दिन-रात प्रज्वलित हो रही है; उस ज्वाल-माला के आलिङ्गन होते ही हिन्दू-समाज का अस्तित्व सदैव के लिए लुप्त हो जायगा—शायद इतिहास के पन्नों में उसकी अतीत-स्मृति रह जायगी ! पर वह अतीत-स्मृति भी घृणा-पूर्ण होगी !

हाँ, तो उस दिन मैं नाश्ते से छुट्टी पा, दफ़्तर में आ बैठा और किसी असामी के आने की बाट जोहने लगा; इतने में ही एक सुन्दर नवयुवक ने कमरे में प्रवेश किया। देखने में वह किसी भले घर का बेटा जान पड़ता था। चिन्ता की स्याही ने उसके मुखड़े को श्रीहीन कर दिया था। मैंने सोचा—यह भले घर का बेटा, ज़रूर किसी आपत्ति में पड़कर यहाँ तक आया है, इससे अच्छी दक्षिणा वसूल करूँगा। सहानुभूति-सने स्वर में मैंने उससे कहा—कृपा कर आप अपने आने का मतलब कह सुनाइए !

मैंने समझा था कि यह युवक अपने मामले-मुक़द्मे के सम्बन्ध में इज़हार देगा; पर उसने जो इज़हार दिया, वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी था। उसमें बड़ी ही वेदना—हिन्दू-

समाज की घोर क्रन्दन-ध्वनि—भरी हुई थी ; और जिसकी वकालत करने की शक्ति मुझ-जैसे असमर्थ वकील में न थी ! वह युवक फ़रियादी था, और उसे क्रूर हिन्दू-समाज ने 'प्रथा' की ओट लेकर दीन-दुनिया कहीं का भी न रक्खा था। ऐसे प्रबल समाज के विरुद्ध, जो केवल परम्परा-गत नियम अथवा प्रथा के आधार पर अपने ही अङ्ग पर वज्र-प्रहार कर रहा हो, पैरवी करना क्या सरल कार्य है ? और क्या उसे कोई क़ानूनी वकील क़ानून का आश्रय लेकर कर सकता है ?

उसने उत्तर दिया—बाबू जी, मैं नौकरी की तलाश में आपके पास आया हूँ। बड़ा ही दुखी आदमी हूँ, एक बड़े परिवार का बोझ मेरे सिर पर है। यदि आप आध सेर आटे का प्रबन्ध कर देंगे, तो बड़ी कृपा होगी !

मैंने कुछ आश्चर्य-चकित हो पूछा—कहाँ तक पढ़े हो ?

उसने उत्तर दिया—प्राइमरी हिन्दी और अङ्गरेज़ी मिडिल तक।

मैं—इतनी थोड़ी शिक्षा पाने वाले को तो आजकल अच्छा पद प्राप्त होना असम्भव है। तुम देखने में तो किसी बड़े आदमी के लड़के जान पड़ते हो, फिर इतनी सी शिक्षा से ही तुमने क्यों सन्तोष कर लिया ? और तुम्हें नौकरी की ऐसी क्या आवश्यकता है ?

मेरे प्रश्न से वह और भी उदास हो गया। बोला—

बाबू जी, मैंने अपनी इच्छा से सन्तोष नहीं किया। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं और भी शिक्षा प्राप्त करता। पिता जी भी यही चाहते थे; पर मेरे दुर्भाग्य ने ऐसा न होने दिया! श्रीमान् का पुत्र होने पर भी मुझे पाठशाला छोड़कर घर बैठना पड़ा—इसे अपना दुर्भाग्य न कहूँ तो क्या कहूँ? एक दिन स्वयं मेरे यहाँ अनेक सेवक थे, आज पेट के लिए मैं स्वयं सेवक वृत्ति की खोज में चारों ओर चक्कर लगा रहा हूँ—दर-दर ठोकरें खाता फिरता हूँ। भाग्य मनुष्य को जो-जो नाच नचाए, थोड़ा है।

मैंने विरक्त होकर पूछा—तुम्हारे कहने का क्या मतलब है? नौकरी पाने के लिए तो सभी ऐसी ही बातें बनाया करते हैं!

इस पर उसकी आँखें डबडबा आईं। वह करुण-स्वर में बोला—नहीं बाबू जी, मैं बातें नहीं बना रहा हूँ। मेरा दुर्भाग्य ही आपसे ऐसे शब्द कहलवा रहा है। एक सम्पन्न घर का युवक आज हिन्दू-समाज की बलि-वेदी में अपने सर्वस्व की आहुति देकर आपके निकट तिरस्कार प्राप्त करने आया है—यह साधारण बात नहीं है। जब आप मेरी करुण-कथा सुनेंगे, तब आपको मालूम होगा कि दुर्भाग्य ने हिन्दू-समाज का सुनहरा सुन्दर स्वरूप लेकर मुझे और मेरे परिवार को किस प्रकार ठगा है—हम लोगों को राजा से रङ्क बना दिया है! क्या आप मेरी कथा सुनेंगे?

मैं उसकी कथा सुनने के लिए व्यग्र हो उठा। मेरे 'हाँ' कहने पर उसने अपनी जो करुण-कथा सुनाई, वह उसी के शब्दों में यहाँ ज्यों की त्यों दी जाती है :—

"बाबू जी, आज मैं दीन-हीन के रूप में आपके सामने याचक होकर आया हूँ। आप कल्पना भी नहीं कर सकते कि मेरे अतीत दिवस कैसे सुखमय थे। उस समय कौन जानता था कि भाग्य-विडम्बना से एक दिन मैं श्रीहत हो, टके-टके के लिए पराए के सामने हाथ फैलाता फिरूँगा; और मेरे परिवार के वे लोग, जिन्होंने वैभव की आनन्द-मयी गोद में अपने दिन हँसते-हँसते बिताए थे, आज क्षुधा की तृप्ति के लिए आँखों में आँसू भरकर मूक पशु के समान आकाश की ओर देखेंगे। जब उन दिनों की याद आती है, तब हृदय एक बार गर्व से उत्फुल्ल हो उठता है; परन्तु अपनी यह दीन-दशा देखते ही वह प्रखर ग्रीष्म-उत्ताप में कोमल कुसुम के समान मुरझा जाता है। आखें भर आती हैं, चित्त खिन्न हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है, मानों मेरी दीन-दशा देख, दशों दिशाएँ खिन्न एवं हतप्रभ हो रही हैं।

अहा! वे दिन कैसे उल्लासमय थे। उस अतीत की सुखमयी स्मृति से एक बार पुनः मेरे निर्जीव प्राणों में स्पन्दन होने लगता है। उन दिनों हमारे पास क्या नहीं था? एक नहीं, पाँच-पाँच गाँव थे, खेती-किसानी की

कमी न थी, धन-सम्पत्ति की भी दया थी, घर में दास-दासियों की कमी न थी—बिना कहे ही आदमी हमारी सेवा के लिए तैयार रहते थे ; द्वार पर हाथी झूमता था, पिता जी अपने इलाक़े के प्रमुख धनी समझे जाते थे; परन्तु आज वह सब वैभव शिशिर के कुहरे के समान न जाने किस अन्तराल में लुप्त हो गया है। आज हम लोग दीन हैं, समाज के सामने हम तुच्छ हैं, अतः हमारा तिरस्कार किया जाता है; और जब हमारी आँखें डबडबा आती हैं, तो वे लोग, जिन्हें शिष्टाचार के नाम पर सज्जन कहा जाता है, मुस्करा देते हैं।

बाबू जी, आप सोचते होंगे कि फिर मेरे उस सङ्गीत-मय वैभव की मधुर-रागिनी किस वायुमण्डल में विलीन हो गई ? क्या हम लोगों ने जान-बूझकर अपनी सुख-लता की जड़ में विष दिया है ? नहीं-नहीं, हमारी इच्छा तो नहीं थी, पर हमारे समाज ने न जाने हमें क्या कर दिया ? उसने हमारे हाथ में विष का प्याला दे दिया और हमने उन्मत्त के समान उसे लहलहाती हुई सुख-लता की जड़ में उँडेल दिया। हाय ! वह हँसती हुई बेल देखते ही देखते मुरझाकर सूख गई। तब हमारा उन्माद दूर हुआ—हमारी आँखें खुलीं। हमने अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली है, यह जानकर हमारा हृदय हाहाकार कर उठा; पर अब रोने-पछताने से क्या होता था ?

मेरे पिता बड़े ही धर्मपरायण और सदाचारी थे। उनमें धार्मिक कट्टरता कूट-कूटकर भरी थी। पुराने समय के ब्राह्मण थे, अतः वे प्राचीनता और प्राचीनता के नाम पर अन्ध-परम्परा के कट्टर अनुयायी थे। समाज में जो रूढ़ियाँ प्रचलित हैं, वे उचित हैं या अनुचित ; इस पर विचार करना उनकी दृष्टि में घोर नास्तिकता थी। समाज के पथ पर चलना—उसका राई-रत्ती अनुकरण करना—वे प्रतिष्ठित-कार्य ही नहीं समझते थे, बल्कि वह उनकी दृष्टि में धर्म का भी एक अंश था—और मुख्य अंश था। इसके साथ ही उन्हें अपनी कुलीनता का भी विशेष अभिमान था, और उस अभिमान की रक्षा करने के लिए वे घर फूँक तमाशा देखने वालों में से एक थे। कहा करते थे—धन-सम्पत्ति का क्या, चार दिन की चाँदनी है, रही-रही, न रही ; पर मान-प्रतिष्ठा और कुलीनता तो मनुष्य की जीवनाधार हैं, इनके बिना मनुष्य और पशु के जीवन में अन्तर ही क्या रहा ? पूर्वजों के नाम की प्रतिष्ठा बनी रहे, यह मनुष्य का प्रधान ध्येय होना चाहिए और इसकी रक्षा के लिए जो पैसे का लालच करता है, वह आदमी नहीं—पैसे का मल है।

इन सिद्धान्तों को आप गुण कहिए, चाहे अवगुण ; पर आज हमारे समाज में इन्हीं की भेरी गूँज रही है। ये सिद्धान्त हिन्दू-समाज के मन-प्राण के साथ एकरस हो

गए हैं ; और आज इन्हीं की ठोकरों से हिन्दू-समाज धूलि-सात हो रहा है। मेरा विश्वास है कि पिता जी के इन्हीं सिद्धान्तों के कारण हमारा सोने का घर राख हो गया ; और उसके साथ ही हमारे भाग्याकाश में दुख की घोर तमोमयी रजनी का उदय हुआ ! नहीं जानता, यह निशा कितनी विराट् है, इस जीवन में इसका अन्त होगा या नहीं ?

जब पिता जी समाज के विराट् अग्नि-कुण्ड में अपने सर्वस्व की आहुति दे चुके, तब उनकी आँखें खुलीं—तब उनकी कुलीनता और प्रतिष्ठा के मद का अन्त हुआ ; और उन्होंने देखा कि सामने मेरा श्री-विहीन घर, मानो अपने पूर्व-वैभव की स्मृति से विह्वल हो, मौन-रुदन कर रहा है ; और उसके विशाल कक्ष में मेरे हृदय के कोमल टुकड़े दीन-हीन हो, करुण-रुदन करते हुए बिलबिला रहे हैं ! यह दारुण दृश्य देखते ही पिता जी के कोमल और दयार्द्र प्राण काँप उठे ! कुलीनता, महत्ता और पूर्वज-प्रतिष्ठा की ख़ुमारी एकबारगी जाती रही ! पिता जी सचेत हो, चारों ओर देखने लगे ; और उस सचेतावस्था में पूर्व-वैभव की दाहक स्मृति ने उनके हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि हाहाकार करके प्रज्वलित कर दी। तब पिता जी हम लोगों को भूल गए, अपने आपको भूल गए—यहाँ तक कि अपने प्राणों को भी भूलकर न जाने प्रकृति के विराट् अन्तराल में किस ओर

लीन हो गए ! अहा ! चेतनता में भी कैसी अचेतनता है ! अस्तु—

मैं कह चुका हूँ कि मेरे पिता पाँच गाँवों के स्वामी थे। लक्ष्मी जी की उन पर कृपा थी। वे जैसे धनी-मानी थे, वैसा ही उनका परिवार भी भरा-पुरा था। उनके दिन आनन्दपूर्वक वीतते थे, परन्तु उनका सुख-सौभाग्य देख, क्रूर विधाता दुर्भाग्य की ओट में व्यङ्ग-रूप से मुस्करा रहा था। उसकी वक्र-दृष्टि देखते ही लक्ष्मी जी भी रूठ गईं ! मानों वे अपने पति को सन्तुष्ट करने के लिए तैयारी करने लगीं। अपनी वरद और सुखद छाया हटाने के लिए उन्होंने क्रमशः पाँच कन्याओं के रूप में पिता के यहाँ अवतार लिया ! कन्या के 'कहाँ-कहाँ' स्वर में कौन कहता है, सङ्गीत-माधुरी रहती है ? उसे सुनते ही माता-पिता के प्राण काँप उठते हैं। उन्हें यह समझने में विलम्ब नहीं लगता कि हमारे भाग्याकाश में ये विपत्ति के बादल गरज रहे हैं, जो समय आने पर घुमड़-घुमड़कर दुख की घोर जल-राशि बरसाएँगे।

एकबारगी पाँच कन्याओं को देख, पिता जी की आँखें डबडबा आतीं। वे आकाश की ओर देख, ठण्ढी साँस लेकर कहने लगते—हे भगवन् ! इस दास से ऐसा कौन-सा घोर पाप बन पड़ा, जो आपका कोप—एक नहीं, पाँच मूर्त्तियों में मेरे यहाँ अवतार लेकर मुझे भयभीत कर

रहा है ? कभी कुचाल न चला, धर्म से मुँह न मोड़ा; फिर भी दयानिधि की दृष्टि टेढ़ी हो गई ! अब समाज में मेरा मस्तक नीचा पड़ जायगा। लोगों की ओर नम्र-दृष्टि से देखना पड़ेगा ; उनकी हाँ में हाँ मिलानी पड़ेगी, तब कहीं जाकर बेटियों को ठिकाने लगा सकूँगा। इसके साथ ही सम्पत्ति से अलग हाथ धोना पड़ेगा, नहीं तो पूर्वजों के नाम पर बट्टा लग जायगा। भगवान् न जाने किस पाप का यह घोर दण्ड देने के लिए तत्पर हो रहे हैं।

मैंने कभी नहीं देखा कि पिता जी ने मेरी बहिनों पर प्यार किया हो। हम दोनों भाइयों को देखते ही उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता था, पर ज्योंही बहिनें उनके सामने आ जातीं, त्योंही मानो सोया हुआ सिंह जाग उठता ! एक भयङ्कर नाद से घर का कोना-कोना गूँज उठता। उसे सुनते ही मेरी बहिनें मारे भय के पीपल के पत्ते के समान थरथर काँप उठतीं, उनके नयनों में जल छा जाता, और दूसरे ही क्षण वे वहाँ से पिता जी पर एक करुण-दृष्टि निक्षेप करती हुई चली जातीं। पिता से तिरस्कृत हुई वे अबोध कन्याएँ, माता के स्नेहमय मधुर साम्राज्य में चली जातीं। उनके सजल नयन देख, माता जी विह्वल हो जातीं, उनके नेत्र भी सजल हो उठते, और वे किसी दरिद्री या द्रव्य-लोलुप के समान अपने उस खोटे धन को अञ्चल में छिपा लेतीं।

माता जी ही बहिनों का आधार थीं, उनका पवित्र प्रेम उनके जीवन-तरु को सिक्त करता रहता था; और उस सञ्जीवनी शक्ति को प्राप्त कर, मेरी बहिनें किसी प्रकार अपने शैशव के दिवस बिताया करतो थीं। बहिनों की यही स्थिति थी, मेरे पिता के धर्म-प्राण शासन में ( नहीं जानता था, पिता जी किस धर्म-ग्रन्थ को पढ़कर यह शासन करते थे ) बहिनों की सजल दृष्टि देख, मेरा हृदय भीतर ही भीतर बल खाने लगता था, तब मैं पिता से कहता—पिता जी, आप बहिनों को देखते ही क्यों आग-बबूला हो उठते हैं? आप नहीं जानते, आपकी इस फटकार से बेचारियों को कैसा दुख होता है; और वे कैसी सिसक-सिसककर रोया करती हैं!

पिता जी उत्तर देते—बेटा, उनके रोने-धोने पर ध्यान न दिया करो! तुम नहीं जानते, ये तुम्हारी बहिनें नहीं हैं, दुश्मन हैं। हाय! ये बिजलियाँ हैं, जिस दिन टूटेंगी, हमारे आनन्द-भवन को चूर-चूर कर डालेंगी। क्या करूँ, धर्म की दीवार सामने है, समाज का घोर बन्धन हिलने नहीं देता, और अङ्गरेज़-सरकार का हण्टर अलग ही प्राण कँपा देता है, नहीं तो×××

पिता जी की ऐसी बातें सुनकर मुझे चुप ही रह जाना पड़ता था।

बहिनें पिता के पवित्र प्रेम का एक भी कण न पा

सकीं। उन पर पिता जी की अग्निमयी दृष्टियाँ भी विशेष प्रभाव न डाल सकीं। प्रकृति के नियमों को कोई बरबस नहीं उलट सकता! माता के आनन्दमय सुधावर्षक राज्य में बहिनें बड़ी होने लगीं। यह देखकर पिता के प्राण आधे रह जाते थे। वे कभी-कभी अकारण ही माँ से उलझ पड़ते और जब उनका क्रोध सीमा को लाँघ जाता, तब वे कह उठते—हाय रे फूटे भाग्य! जब देखो तब लड़कियाँ ही तो उत्पन्न करती हो; फिर भी मुझे सताना नहीं छोड़तीं।

माता जी थीं शान्त-प्रकृति की, वे ऐसी बातें सहने की अभ्यस्त हो गई थीं; पर कभी-कभी वे उन्हें उत्तर भी दे देती थीं—भाई, इसमें मेरा क्या अपराध? जब तुम यहाँ आने लगे, तब ईश्वर ने तुम्हारे सिर पर पाँच बेटियों का बोझ लाद दिया। उस समय तो तुम्हें जल्दी पड़ी थी, भाग आए! यदि ईश्वर से झगड़ा किया होता, तो शायद कुछ बोझ कम भी हो गया होता। यह कहते-कहते माता जी मुस्करा देतीं, पर साथ ही उनकी आँखें भर आतीं। अस्तु, इसी प्रकार होते-करते बड़ी-बहिन ने ग्यारह बरस पूरे कर बारहवें में पैर रक्खा। साथ ही हम पर विपत्ति की काली छाया छा गई।

अब माता जी को बहिन के विवाह की चिन्ता चिन्तित करने लगी। वे बार-बार इस विषय में पिता जी से आग्रह करने लगीं। यद्यपि बहिनें पिता जी के नेत्रों का शूल थीं,

पर इससे क्या हो सकता था, उन्हें उनका विवाह तो करना ही पड़ेगा। अतः वे भी सचेष्ट हुए। पिता जी थे धनी-मानी और प्रतिष्ठित एवं कुलीन आदमी! बहिनों पर उनका रत्तीभर स्नेह न था; पर कुल और नाम को मान-मर्यादा के विचार से वे साधारण आदमियों के साथ तो नातेदारी कर नहीं सकते। उनकी प्रबल इच्छा यही थी कि नातेदारी कुलीन और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ही साथ की जाय; पर हमारे समाज की कुछ ऐसी परम्परा है कि कुलीन एवं प्रतिष्ठित लोगों से सम्बन्ध होना सरल कार्य नहीं है, और धनी-मानी व्यक्तियों को तो इस विषय में और भी आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। लोग सोचा करते हैं कि इस विषय में धनी आदमियों को विशेष बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ता, पर यह केवल उनका भ्रम है। बात यह है कि हमारे समाज में कुलीन और योग्य वर सोने के मोल मिलते हैं; तथा उन्हें मोल लेने के लिए धनी आदमियों को स्वभावतः अत्यधिक द्रव्य व्यय करना पड़ता है। अस्तु—

पिता जी योग्य वर के अनुसन्धान में तत्पर हुए। योग्य वर मिलने में बहुत कठिनाई हुई; और जो मिलते भी थे, उनमें एक न एक दूषण निकल ही आता था—यदि वर सुन्दर मिलता था, तो उसमें कुलीनता की कमी निकल जाती थी; यदि सुन्दर और कुलीन मिलता था, तो उसके

यहाँ द्रव्याभाव के कारण सम्बन्ध होना अनुचित समझा जाता था। पिता जी चाहते थे कि वर सुन्दर हो, योग्य हो, कुलीन हो, प्रतिष्ठित हो और साथ ही धनी भी हो; परन्तु एक ही स्थल पर इतने गुणों का सङ्गठन होना असम्भव नहीं, तो एकबारगी सम्भव भी नहीं है।

अन्त में एक वर मिला। उसमें प्रायः उपरोक्त सभी गुण थे, कमी थी, तो केवल यह कि वह जन्म-रोगी था; पर यह कमी उसके पिता की धन-सम्पत्ति ने अनेकांश में पूर्ण कर दी थी। उसका पिता अनेक गाँवों का स्वामी था, दूर-दूर तक उसकी कीर्त्ति व्याप रही थी। ऐसे नामी व्यक्ति से सम्बन्ध करने के लिए पिता जी लालायित हो उठे, पर माता ने इस सम्बन्ध का विरोध किया। कहा—दुर्बल वर को कन्या देना, उसके वैधव्य को न्यौता देना है; परन्तु उनकी विरोध-ध्वनि केवल पिता जी के कानों से ही टकराकर रह गई।

उन्होंने माता को उत्तर दिया—तुम घर में बैठने वाली औरत हो, इन बातों को क्या समझो? जानती हो, इस सम्बन्ध से क्या होगा? मेरी मान-मर्यादा में चार चाँद लग जायँगे। सौभाग्य से ही ऐसा सम्बन्ध प्राप्त होता है।

माता जी चुप हो गईं। पुरुष घर के स्वामी—एकच्छत्र स्वामी होते हैं। उनकी इच्छा में बाधा देने का अधिकार

स्त्री को प्राप्त नहीं। पुरुष अच्छा करे तो, बुरा करे तो; सुपथ पर चले तो, कुपथ पर चले तो; स्त्री को तो मूक पशु के समान उसके पीछे-पीछे ही चलना चाहिए, हमारे समाज ने उसके लिए यही परम धर्म बतलाया है। अस्तु—

पिता जी उस धनी व्यक्ति के यहाँ सम्बन्ध करने के लिए आतुर हो उठे। उनकी वह प्रबल इच्छा देख, वह भी अड़ गया और अपने रोगी पुत्र का मोल-भाव कसकर करने लगा। उसने पिता जी से कहा—आप धनी आदमी हैं, चारों ओर आपकी प्रतिष्ठा छाई हुई है। आपसे सम्बन्ध करने में मुझे भी तो कुछ लाभ होना चाहिए। यदि आप तिलक में यथेष्ट रुपए न देंगे, तो मेरी प्रतिष्ठा क्या रहेगी? आदमी प्रतिष्ठा के थोथे अभिमान में क्या नहीं कर डालता? जो बेटी पिता जी की आँखों में काँटे-जैसी खटकती थी, उसी के लिए वे मुट्ठी-भर रुग्ण कङ्काल दस सहस्र में मोल लेने के लिए सहर्ष तैयार हो गए; क्योंकि इससे उनकी मान-मर्यादा में चार चाँद लगने वाले थे न!

यद्यपि हम लोग पाँच गाँवों के स्वामी थे, धनी-मानी और वैभवशाली समझे जाते थे, पर घर में वास्तव में सदा ही पैसे का अकाल बना रहता था। जो कुछ था, ऊपरी ठाट-बाट था; पर प्रतिष्ठा के भूखे, घर फूँक तमाशा देखने वाले पिता जी आँखें बन्द कर, उस द्रव्य-लोलुप की

लालसा तृप्त करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गए। उन्होंने बिना आगा-पीछा सोचे दो गाँव रहन रख दिए। दस सहस्र से उस लोभी की लोभ-पिपासा शान्त की और पाँच सहस्र विवाहोत्सव में व्यय किए गए।

बारात बड़ी धूम से आई, पिता जी ने दिल खोलकर बहिन की शादी की। जिसे देखो वही उनकी बड़ाई करने लगा—'रईस हो तो ऐसा हो ; बड़ों का दिल बड़ा ही होता है। बड़ों के काम बड़े ही होते हैं।' पिता जी अपनी प्रशंसा सुनते तो फूले न समाते, उनके पैर ज़मीन पर सीधे न पड़ते। परन्तु बाबू जी, इस उल्लास का—इस अभिमान का, इस शाही व्यय का, अन्तिम परिणाम क्या हुआ ? दो-तीन बरस पश्चात् ही वह बहुमूल्य अस्थि-पिञ्जर बहिन का सौभाग्य-सिन्दूर पोंछ, उसकी गोद में एक रुग्ण-शिशु छोड़, चिता-भस्म में जा छिपा। आज वह युवती-विधवा बहिन घर में बैठी वैधव्य-यातना से तिल-तिल करके घुल रही है।

बड़ी बहिन के विवाह के डेढ़-दो बरस बाद ही दूसरी बहिन सयानी हो चली। अब उसके विवाह की चिन्ता सामने आई। पिता जी एक सम्बन्ध अपनी बुद्धि में अच्छी जगह कर चुके थे, और ख़ूब द्रव्य व्यय कर, नाम कमा चुके थे। अब उनका हौसला बढ़ गया था। अब यह सम्बन्ध साधारण घर में, साधारण रीति से कैसे कर

सकते थे ? क्योंकि ऐसा करने से समाज में उनका माथा नीचा हो जाता न ! इस वार पिता ने पहले से भी अधिक श्री-सम्पन्न वर ढूँढ़ लिया। इस वर की आयु लगभग पचास बरस की थी, परन्तु वह भी बिना तिलक लिए विवाह करने को तैयार न था।

पिता जी प्रतिष्ठा और कुलीनता के मद में उन्मत्त हो रहे थे। नाम और वाहवाही के प्रलोभन से उसकी लालसा तृप्त करने के लिए तत्पर हो गए। ग़नीमत इतनी ही थी कि उसकी स्त्री का देहान्त हो चुका था। उसने पिता जी की प्रवृत्ति का परिचय पा लिया था, अतः वह शादी के लिए 'नहीं-नहीं' कहते हुए भी अन्त में सात हज़ार पर राज़ी हो गया। जब माता जी ने यह सुना, तो माथा पीट-कर पिता से कहा—तुम्हें हो क्या गया है ? वर भी ठीक मिलता, तो एक बात थी, पर यहाँ तो वह भी नहीं है और तुम इतने पर भी पानी के समान धन बहा रहे हो ! क्या यह हीरा-जैसी बेटी, इस टूटे-फूटे ठीकरे के साथ शोभा पा सकेगी ? दया करो, बेटी के जीवन को धूल में न मिलाओ !

पिता जी ने उत्तर दिया—तुमसे मतलब ? मैं घर का स्वामी हूँ, मुझे जो अच्छा लगेगा वही करूँगा। क्या मुझे अच्छा-बुरा नहीं सूझ पड़ता ? कोई कुलीन, धनी-मानी और उत्तम वर मिले तब न ? जो उत्तम वर मिल भी जाते हैं, उनके अभिमान की थाह नहीं मिलती ! घर में भूँजी

भाँग नहीं है और दस-पन्द्रह हज़ार का राग अलापते हैं। ऐसे भिखमङ्गों से तो वही बूढ़ा अच्छा—उसकी प्रतिष्ठा तो है, उसके यहाँ धन-सम्पत्ति का अभाव तो नहीं है। कमला की माँ, बुरा न मानना, अपना द्रव्य कौन लुटाना चाहता है? पर यहाँ तो जिससे सामना पड़ता है, वही धन का ढेर देखना चाहता है? तुम्हीं कहो, ऐसी दशा में क्या करूँ? विवश होकर मुझे यह धन-राशि लुटानी पड़ती है! क्या मैं नहीं जानता कि ऐसा होने से एक दिन मैं दीन हो जाऊँगा—मेरे बच्चे निराधार रह जायँगे! पर हिन्दू-समाज में जन्म लिया है, परमेश्वर ने हमारे पाप के दण्ड-स्वरूप हमें ये बेटियाँ दी हैं! दण्ड के इस भारी बोझ को तो सहन करना ही पड़ेगा। फिर इस घर में तो वर ही गृह-स्वामी है, बेटी जाते ही गृह-स्वामिनी बन जायगी!

इतना कहते-कहते पिता जी की आँखें डबडबा आईं। उनकी विवशता देख, माता जी केवल 'हाय' करके रह गईं! अस्तु—

यह विवाह भी पहले के समान बड़ी धूम-धाम से हो गया। किसी बात की कमी न रही। पिता जी की महत्ता में रत्ती-भर की कमी न हुई। इस बार भी सबने उनकी बड़ी बड़ाई की; पर अब उनको पहले-जैसा उल्लास नहीं था, न उनमें आनन्द की उस अनुभूति के ही दर्शन होते थे। इसके स्थान पर उनके मुखड़े पर एक प्रकार की विषाद-

मयी गम्भीरता ने अधिकार कर लिया था, इस बार विवाह में लगभग बारह हज़ार रुपए व्यय हुए थे और यह विपुल व्यय तीसरा गाँव रहन रखकर किया गया था। पिता जी की उदासी का कारण समझने में हम लोगों को विलम्ब न लगा; पर उपाय क्या था? हिन्दू-समाज की प्रथा को छिन्न-भिन्न करने की शक्ति तो हम में थी नहीं, फिर इसमें हिन्दू-समाज के अपराध के साथ ही कुछ अपराध पिता जी का भी था! उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा का जो थोथा अभिमान किया था, उसका कुछ न कुछ दण्ड उन्हें भी मिलना अवश्य सम्भव था।

अन्त में वही हुआ, जिसका खटका माता को आरम्भ से ही था और जिसकी सम्भावना उन्होंने पिता जी से प्रकट भी कर दी थी; पर उस समय पिता जी दूसरे ही रङ्ग में थे। वे माता की बात पर ध्यान ही क्यों देते? बारह हज़ार पर पानी फिर गया, हमारी ग़रीबी दूनी हो गई; किसलिए, केवल बहिन को वैधव्य-वेष में देखने के लिए—उसकी ठण्ढी साँसें सुनने के लिए! हिन्दू-समाज की अबलाओं का कैसा दुर्भाग्य है! माता-पिता कन्या की तोल का सोना व्यय कर, हँसते-हँसते गा-बजाकर उस बेचारी के लिए असह्य वैधव्य-यातना, जीवन-भर रक्त के आँसुओं से अपने वक्षस्थल को सिक्त करना, अपने कुसुम-कोमल शरीर को ताप की वेदी पर तिल-तिल करके जलाना, सुन्दर

संसार को देखकर रात-दिन निराशा से सर्द आहें भरना आदि घोर त्रास का बोझा—ऐसा बोझा, जिसे सँभालने में वह सर्वथा असमर्थ रहती है, ख़रीद देते हैं; और समाज इस पैशाचिक कार्य में उनका सहायक बनता—उन्हें उत्तेजना देता तथा दलाली में मिष्टान्नों पर हाथ साफ़ करता है।

हाय! विवाह के दो-तीन बरस के बाद ही यह बहिन भी विधवा हो गई! वृद्ध पति उसके हाथ की चूड़ियाँ तोड़, माँग का सिन्दूर पोंछ, अनन्त के अतल-तल में विलीन हो गया।

पिता ने कहा था कि बेटी गृहिणी के उच्च-पद पर प्रतिष्ठित होगी, अतुल सम्पत्ति की स्वामिनी होगी; पर यह कुछ न हुआ। उसका वृद्ध पति मरते समय अपने भाई-भतीजों को अपना उत्तराधिकारी नियत कर गया; और बहिन के लिए क्या कर गया—उन उत्तराधिकारियों की कृपा पर अवलम्बित रहना—उनसे महीने में जीवन-वृत्ति के लिए कुछ रुपए पाना; और वह भी कब तक, जब तक वह उस वृद्ध के नाम पर साथ इज़्ज़त के घर की चहारदीवारी के अन्दर छिपी बैठी रहे! परन्तु क्या चाँदी के चन्द टुकड़े उसके ज्वालामय जीवन—हाहाकार करके जलते हुए जीवन को शीतलता और शान्ति का एक कण भी प्रदान कर सकेंगे?

इसके पश्चात् पिता जी को भी अवसर मिला कि वे भी अन्य लोगों से कुछ वसूल करें—अब अपने पुत्रों को विवाह की हाट में खड़ा करें ; और सबसे ऊँची बोली पर नीलाम ख़तम कर दें। पिता जी ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वे हम दोनों भाइयों के विवाह में कन्या-पक्ष वालों से जितनी अधिक रक़म मिल सकेगी, वसूल करने की चेष्टा करेंगे ; और हम दोनों के विवाह में जो आय होगी, उससे दो बहिनों का विवाह किया जायगा। बाक़ी रहेगी छोटी बहिन, सो उसके विवाह में बहुत होगा, एकाध गाँव और निकल जायगा; फिर भी परिवार के साधारण जीवन-निर्वाहार्थ कुछ न कुछ बच ही रहेगा।

इस प्रकार मन ही मन गुनवाड़ा लगा, पिता जी हम लोगों के विवाह की चेष्टा में संलग्न हुए। उस समय मेरी आयु लगभग पन्द्रह बरस की थी, मैं मिडिल में पढ़ रहा था। मेरा छोटा भाई अभी दस-ग्यारह बरस का ही था ; फिर भी पिता जी को मेरे साथ ही उसके विवाह की भी विशेष चिन्ता थी। इसका कारण यह था कि मेरी तीसरी और चौथी बहिनें भी वेग से विवाह के समय की सीमा में प्रवेश कर रही थीं। तीसरी बहिन कोई बारह बरस की और चौथी आठ बरस की थी। बिना हम दोनों का विवाह किए उनके हाथ पीले होना असम्भव था।

जब माता को पिता का यह विचार मालूम हुआ,

तब उनके आनन्द की सीमा न रही—अपने छोटे से बच्चे को दूल्हे के वेष में देखने के लिए उनके नेत्र रह-रहकर लालायित होने लगे। पुरा-पड़ोस की स्त्रियों ने उनका मन और भी बढ़ा दिया। अस्तु—

हम लोगों के विवाह की चेष्टा होने लगी। लोग बढ़-बढ़कर बोलियाँ बोलने लगे। नाई और ब्राह्मणों की बन पड़ी, बेचारे हमारा काम करने के लिए बिना बुलाए ही आ जाते, और पिता जी का आश्वासन पाते ही ज़मीन-आसमान के कुलाबे तक मिला डालना चाहते थे। नित्य नए सँदेशे आते, नई-नई कुण्डलियाँ आती थीं। यह देख पिता जी का हौसला भी बढ़ता जाता था। अन्त में एक धनी और उदार सज्जन ने हम दोनों भाइयों को बारह हज़ार रुपए में मोल लेने की कृपा की। बड़ी धूम-धाम से हम लोगों के विवाह हुए। माता-पिता की उमङ्गों की सीमा न थी। व्यय के लिए उन्होंने हाथ खोल दिया। ख़ूब बाराती जमा हुए, खान-पान की सीमा न रही। प्रयाग और लखनऊ की नामी-नामी वेश्याएँ बुलाई गईं, फूल-फुलवाड़ी और आतिशबाज़ी में भी ख़ूब धन व्यय किया। यद्यपि पिता जी ने अपनी समझ में इस बार बड़ी ही सावधानी से व्यय किया था; पर जब लेखा लगाया गया, तब योगफल पाँच हज़ार से भी आगे निकल गया।

इस प्रकार रुपयों की वर्षा के बीच हम लोगों के

विवाह बड़े आनन्द एवं उल्लास से सम्पन्न हुए; परन्तु माता-पिता उस उल्लास की अनुभूति से पूर्णतया तृप्त भी न होने पाए थे कि उनके समक्ष दारुण दुख की विकटाकार मूर्त्ति आ उपस्थित हुई। उसे देखते ही माता-पिता चीख़ उठे; फिर तो वह हँसता हुआ घर भीषण हाहाकार के साथ क्रन्दन-ध्वनि करने लगा। विवाह के थोड़े ही दिन बाद छोटा भाई बीमार पड़ा, और फिर न बचा। उसकी छोटी-सी वह बहू, जिसने अभी बचपन के दिन भी नहीं बिता पाए हैं, जो अभी यह भी भली-भाँति नहीं जानती कि विवाह किसे कहते हैं, पति किस वस्तु का नाम है, हाथों की चूड़ियाँ तोड़, घर में बैठी है। हा! बेचारी नहीं जानती कि उसका भाग्य सदा के लिए फूट गया है, दुर्भाग्य की शनि-दृष्टि ने उसके सुख में ऐसी आग लगा दी है, जो जीवन को—उस कोमल शरीर को—जलाकर ही शान्त होगी, तब उस पर कैसी बीतेगी? जब वह आठ-आठ आँसू रोएगी, तब कौन उन रक्त-बिन्दुओं को पोंछने का साहस करेगा? समझदार लोग ठीक ही कहा करते हैं कि बाल-विवाह अनुचित है, इसी से समाज में विधवाओं की निरन्तर वृद्धि हो रही है; पर समाज को अपने ही हित की ऐसी बातें विष-सी विषैली एवं घातक जान पड़ती हैं। यदि पिता ने मेरे छोटे भाई का विवाह न किया होता, तो आज घर में वह बाल-विधवा कहाँ से आती, जो

भविष्य में अपने उत्तप्त आँसुओं से—अपनी गर्म साँसों से—हमारे चारों ओर के वायु-मण्डल को अग्निमय कर देगी ?

थोड़े दिन पश्चात् तीसरी और चौथी बहिन के विवाह का अवसर आया। माता जी ने बड़े आग्रह से पिता से कहा—इस बार तुम्हारी एक न चलने दूँगी, अपनी ज़िद में—अपने बड़प्पन की धुन में तुमने हज़ारों पर पानी फेर दिया ; ज़माने भर का क़र्ज़ बना, सारी जायदाद साहूकारों के चङ्गुल में फँसा दी। बेटियाँ सुखी रहतीं तो भी सन्तोष कर लेती, पर बेचारी रात-दिन रक्त के आँसू बहाकर अपना समय बिताती हैं। मुझसे तो उनका दुख नहीं देखा जाता। इस बार बेटियों का विवाह धन-सम्पत्ति के साथ न हो सकेगा, मान-मर्यादा के साथ न हो सकेगा—हो सकेगा तो केवल उत्तम वर के साथ। यदि मेरी बात न चली, तो मैं विष खाकर प्राण त्याग दूँगी।

अब पिता जी में वह बात न रही थी। सम्पत्ति एक प्रकार से स्वाहा हो चुकी थी। मर्यादा की वेदी पर दो पुत्रियों के बलिदान ने भी उन्हें सचेत कर दिया था ; अतः उन्होंने बिना किन्तु-परन्तु के ही माता की बात मान ली ! इस बार वरों की विशेष छान-बीन न करनी पड़ी। साधारण घरों में सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट वरों के साथ बहिनों का विवाह हो गया। यद्यपि अब की बार पहले-जैसी धूम

धाम नहीं की गई थी, पर तो भी पूर्वोपार्जित यश को एकबारगी धो बहाना बहुत कष्टकर था। वर-पक्ष का मस्तक ऊँचा होता ही है। यद्यपि विवाह साधारण घरों में हुए थे, तो भी दहेज की वेदी पर पिता जी को बरबस यथेष्ट आहुति देनी पड़ी। इन दोनों विवाहों में न्यूनाधिक दस हज़ार रुपए व्यय हुए। विवश हो, पिता जी को चौथा गाँव भी बन्धक रखना पड़ा। इस बार वास्तव में उन्हें भीषण सन्ताप हुआ, पर उपाय क्या था? समाज के अग्निकुण्ड में आहुति दिए बिना तो हिन्दू का त्राण चल नहीं सकता। सन्तोष की बात इतनी ही थी कि इस बार पुत्रियाँ योग्य पात्रों को दान की गई थीं, और उनके जीवन के अश्रुमय होने की कोई आशङ्का न थी।

इन विवाहों ने—दहेज की इन लम्बी-लम्बी रकमों ने—पिता जी की कमर तोड़ दी। उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई। जहाँ तक बन सका, घरेलू ख़र्च में कमी की गई। मैं नगर में रहकर विद्याभ्यास करता था। अब पिता जी मेरा ख़र्च बरदाश्त न कर सके। बस्ता बाँध-कर मुझे घर लौट आना पड़ा। पिता जी रात-दिन चोटी का पसीना एड़ी तक बहाते थे, मैं भी यथाशक्ति उनकी सहायता करता था, पर हमारी आर्थिक स्थिति सुधरने की अपेक्षा दिन-दिन बिगड़ती ही जाती थी। ब्याज घोड़े के समान सरपट चाल से दौड़ रहा था। बहुत चेष्टा की,

पर हम लोग उसे न पकड़ सके, वह हमारी सामर्थ्य से बहुत आगे निकल गया। पिता जी की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। उन्हें चारों ओर निराशा ही निराशा दिखाई देती थी। अब उन प्यारे गाँवों के, जिनके अञ्चल में हमने बाल-क्रीड़ाएँ की थीं, जिनका अन्न-जल हमारी रग-रग में व्याप्त हो रहा था, उद्धार का कोई उपाय न था। महाजन लोग चुपचाप अवसर की बाट देख रहे थे! उनकी इस चुप्पी में क्रूरता—स्वार्थ-लालसा समाई हुई थी। पिता जी जब कभी उनका व्याज चुकाना चाहते, तो वे बड़ी नम्रता से कहते—ऐसी जल्दी की क्या ज़रूरत? घर में ही तो रक्खा है, फिर कभी दे दीजिएगा। आत्म-सम्मान पिता जी को भी चुप कर देता।

ऐसे ही निराशामय समय की प्रतीक्षा में अब तक विपत्ति देवी चुपचाप थीं। यह स्थिति देखी तो घहरा-कर बरस पड़ीं। हमारे हृदय धड़कने लगे, पर उनका आगत-स्वागत किए बिना कैसे चल सकता था? हमें साहस करके तैयार होना ही पड़ा। पिता जी की आतुरता और विह्वलता का ठिकाना न था। जिन आँखों ने एक दिन हरा-भरा घर देखा था—सुख-सम्पत्ति का विलास देखा था—वे अब वह संहारकारी दृश्य देखने जा रही थीं, जहाँ उनके ऐश्वर्य की—भोग-विलास की चिता-भूमि थी! ऐसी स्थिति में स्वाभिमानी पिता जी का निराश और आतुर

होना स्वाभाविक हा था। सबसे छोटी बहिन विवाह के योग्य हुई। पिता जो छाती पर पत्थर रख, उसके विवाह के लिए यत्नशील हुए; परन्तु अब हमारे वे दिन बहुत दूर चले गए थे। लोगों से भी यह बात छिपी न थी। इस-लिए पिता जी का वह प्रभाव—वह मान-सम्मान क्रमशः नष्ट हो रहा था। जिस मान-सम्मान के लिए पिता जी ने अपने सर्वस्व की हँसते-हँसते आहुति कर डाली थी, वही निष्ठुर मान-सम्मान अब उनके साथ आँख-मिचौनी खेल रहा था। उनकी इस परिस्थिति से उनके एक प्रतिष्ठित मित्र ने लाभ उठाना चाहा। उन्होंने पिता जी से प्रस्ताव किया कि आप अपनी छोटी कन्या का विवाह मेरे पुत्र के साथ कर दीजिए; परन्तु पिता जी को यह सम्बन्ध बिलकुल पसन्द न आया। इसका कारण यह था कि एक तो उनका पुत्र कुछ योग्य न था, दूसरे वे महाशय दहेज में काफ़ी द्रव्य भी चाहते थे। यहाँ पिता जी के पास अब दहेज में द्रव्य देने के लिए फूटी कौड़ी भी न थी। केवल एक गाँव बच रहा था, उसी पर हमारे जीवन की सारी आशाएँ निर्भर थीं, अतः वह उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय था; और मित्र महाशय के दाँत इसी गाँव पर लगे हुए थे। पिता जी से रूखा उत्तर पाकर वे दाँत पीसकर रह गए।

इस बेटी के विवाह के लिए पिता जी को कड़ी दौड़-धूप करनी पड़ी। यहाँ तक कि परिश्रम और चिन्ता के

कारण उनके स्वास्थ्य को गहरी ठोकर लगी। तब कहीं जाकर एक अत्यन्त साधारण घर में विवाह की बातचीत तय हुई! वर का पिता बड़ी कठिनाई से एक हज़ार में अपने पुत्र को बेचने के लिए तैयार हुआ; परन्तु इस बार हम पर विधाता की क्रूर शनि-दृष्टि हो रही थी। आप तो जानते ही हैं कि हिन्दू-समाज में परस्पर कैसी सहानुभूति होती है। पिता जी ने प्रतिष्ठित व्यक्तियों से सम्बन्ध करने के लिए अपने हाथों अपना सर्वनाश कर लिया था—उन्होंने अपने सम्बन्धियों की जेबें भरते समय अपने भविष्य की ओर से बिलकुल आँखें बन्द कर ली थीं; पर आज ऐसे आड़े समय में वे ही भले आदमी किनारा काट गए। उधर वे मित्र महाशय बदले की प्रतीक्षा करते-करते अधीर हो रहे थे। उन्होंने वर के पिता को भड़का दिया। उसने पिता को उत्तर दिया—मुझे आपके यहाँ सम्बन्ध करना स्वीकार नहीं। आप अपना द्रव्य अपने पास ही रखिए। मुझे आपकी सुपुत्री के सम्बन्ध की सब बातें मालूम हो गई हैं। यदि ऐसा न होता तो ××× महाशय ही क्यों न आपके यहाँ सम्बन्ध कर लेते? जब आपको कोई न मिला तो आपने मुझे फँसाया!

हा हन्त! कहाँ वह मान-मर्यादा और कहाँ यह घोर अपमान! शेर पिंजड़े में तड़पकर रह गया। यद्यपि साँप के दाँत टूट चुके थे, पर अब भी उसमें वही विष भरा हुआ

था। पिता जी यह घोर अपमान न सह सके ; विष खाकर उन्होंने आत्म-हत्या कर ली। हम लोगों को निराधार छोड़, वे उस लोक को चले गए, जहाँ चिन्ता की चिता नहीं धधकती ; और जहाँ समाज की यह उच्छृङ्खलता—यह उद्दण्डता एकदम सज्जनता में परिवर्त्तित हो जाती है।

पिता का देहान्त होते ही हम लोगों पर आपत्ति का पहाड़ आ टूटा ? उदार साहूकार मानों ऐसे ही पुण्यमय अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। सबने एक-एक करके व्याज पर व्याज लगाकर नालिश दाग़ दीं। परिणाम यह हुआ कि एक श्री-सम्पन्न परिवार सुख की शीतल छाया से परित्यक्त हो, सदैव के लिए दुख की चिलचिलाती हुई धूप में जा पड़ा। हम लोग रोटियों के लिए भी मुहताज हो गए। बन्धक रक्खे हुए चार गाँव तो बिक ही गए; पर जिस गाँव की रक्षा के लिए पिता जी ने प्राण तक दे डाले थे, उस पर भी हमारा अधिकार न रहा। व्याज के नाम पर वह भी महाजनों के विशाल अन्तराल में लीन हो गया !

अब हमारे पास कुछ नहीं है—है केवल अतीत-काल की वह सुखमयी स्मृति और आँखों में रक्त के आँसू ! घर में सात प्राणी हैं। छः स्त्रियाँ—विधवा माता, दो विधवा बहिनें, एक विधवा बहू, एक कुमारी बहिन, मेरी पत्नी—और उन सबका भार है अकेले मुझ पर ! हाय ! मेरी जीवन-नौका कैसे पार लगेगी ? इतने प्राणियों की क्षुधाग्नि कैसे शान्त

होगी ? कुमारी बहिन के हाथ कैसे पीले होंगे ? मेरे चारों ओर निराशा की घोर अँधियारी छाई हुई है ! मुझे कर्त्तव्य-पथ नहीं सूझ पड़ता ! जी में आता है कि मैं भी विष खाकर चल बसूँ; पर उन निराधार अबलाओं पर दृष्टि पड़ते ही कलेजा दहल उठता है—मेरे बाद इनका क्या होगा ? आप कहेंगे, मैं अपनी ससुराल वालों से सहायता क्यों नहीं लेता ? पर सच बात तो यह है कि उनकी भी स्थिति अब अच्छी नहीं है। सिर पर क़र्ज़ का बोझ लाद-कर उन्होंने पहले ही अपना सर्वस्व हमें दे डाला था। अब उनसे कौन-सा मुँह लेकर सहायता की याचना करूँ ?

बाबू जी ! यही मेरी दुखमय कथा है। यदि आपके सामने हाथ न पसारूँ, तो कहाँ जाऊँ ? यदि कहीं सहारा मिल गया, तो ठीक ही है; नहीं इतने प्राणियों की जीवन-नौका एक दिन डूबने को तो है ही !"

युवक की कथा सुनकर मैं स्तब्ध रह गया ! परमात्मा सभी को पुत्रियाँ देता है, फिर भी हमारे समाज में दहेज के नाम पर अबाध-रूप से यह अत्याचार हो रहा है। परिवार के परिवार नष्ट होते जाते हैं, पर इस अत्याचार की गति कुण्ठित नहीं होती। हाय इस अविवेक की भी कोई सीमा है !!

# अनमेल-विवाह का दुष्परिणाम

य ! असमय में ही मैं मृत्यु-मुख में पतित हो रही हूँ । अब मेरी जीवन-लीला शेष होने में विशेष विलम्ब नहीं है ! मुझे मरने का दुख नहीं है। मरना तो एक दिन सभी को पड़ता है, परन्तु मरने-मरने में भी भेद होता है ! जिसने अपने जीवनोद्देश्य को सार्थक कर लिया है—तृप्त होकर संसार-सुख भोग लिया है, वह मृत्यु-शय्या पर पड़ता है; उसके अपने उसे घेरकर बैठते हैं, उसकी सेवा करते हैं, उसे देखकर उनकी आँखें छलछला आती हैं ; उसकी मृत्यु कैसी सुखमयी होती है ! परन्तु मुझे दुख है तो यही कि मेरी ऐसी मृत्यु नहीं हो रही है। मेरे पास क्या नहीं है ? यथेष्ट धन है, घर-द्वार है, ज़मीन-जायदाद है; पर है नहीं वह वस्तु—जिसे देखकर मरते हुए की आँखें ठण्ढी होती हैं और वह सुख से प्राण त्यागता है। सम्पत्तिशालिनी होकर भी मैं अपने इस लम्बे-चौड़े घर में, निर्धन और

अनाथ से भी निकृष्ट दशा में मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई छट-पटा रही हूँ—दुख-दर्द से कराह रही हूँ। मुझ पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। कोई मुझे एक घूँट पानी देने वाला भी नहीं है; क्योंकि मेरा समाज मुझे वहिष्कृत कर चुका है और भयङ्कर बीमारियों से मेरा शरीर गल गया है। मुझे आप ही दुर्गन्ध आती है, तब मेरी ख़बर लेने के लिए कोई क्यों आयगा? ऐसी शोचनीय अवस्था में मैं चारों ओर से निराश होकर मृत्यु की घड़ियाँ गिन रही हूँ। मैं इस संसार में निष्पाप आई थी और अब हृदय की सारी उमङ्गें त्याग—सारी आशाओं को छिन्न-भिन्न कर, पाप का भारी बोझा लादकर यहाँ से जा रही हूँ! न जाने परमात्मा के दरबार में मुझे क्या दण्ड मिलेगा? पर नहीं, वह न्यायी है, उससे मुझे आशा है—विशेष आशा है! वह जानता है कि मेरे पापों का उत्तरदायी कौन है? किसने मुझे पाप-पङ्क में फेंका है! अस्तु—

अब मुझे जीने की आशा नहीं है! जीना भी नहीं चाहती, फिर भी मेरे हृदय में शान्ति नहीं है—वह भीतर ही भीतर उबला जा रहा है! रह-रहकर मैं यही सोचने लगती हूँ—मैं क्या थी और क्या हो गई? मेरी पवित्र जीवन-धारा कैसे अपवित्रता की विराट् धारा में जा मिली? इसमें मेरा कितना दोष है? क्या मेरा यह नारी-जीवन पवित्रतापूर्वक नहीं बीत सकता था? कैसे बीत सकता

था ? हिन्दू-समाज ने अपने चारों ओर ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि उसमें रहकर हिन्दू-नारी को अपने स्त्रीत्व की रक्षा करते हुए पवित्र जीवन बिताना, तलवार की धार पर चलने के बराबर है ! हे हिन्दू-समाज ! मेरे इन शब्दों को सुनकर चौकना मत—क्षुब्ध मत होना ! तू ही और केवल तू ही हम हिन्दू-नारियों की लज्जा के साथ खेलवाड़ करता है ! तू ही हमारे नारी-धर्म की बर्बादी करने वाला है ! क्या तू मेरी करुण-कथा सुनेगा ? सुन चाहे न सुन, मैं तो सुनाऊँगी ! मैं मर ही रही हूँ—अब मुझे क्या सङ्कोच ? अब लज्जा का काम ही क्या ? इसीलिए इस मरणोन्मुख स्थिति में भी मैं अपनी कथा लिखने बैठी हूँ ! यदि तूने मेरी कथा सुन ली, और उस पर कुछ भी विचार किया, तो तू ख़ूब समझ जायगा कि तू उन अबलाओं पर, जो तेरी माताएँ हैं, कैसी क्रूरता करता है—उनके साथ तेरे व्यवहार कैसे पैशाचिकता-पूर्ण होते हैं। मुझे यह तो आशा नहीं कि मेरी करुण-कथा से तेरे कठोर हृदय में दर्द उत्पन्न होगा, फिर भी मैं तुझे अपनी करुण-कथा सुनाऊँगी। तुझी ने मुझे जन्म दिया है, तेरी ही कृपा से मैं इस दशा में पहुँची हूँ, तब तुझे ही अपनी कथा न सुनाऊँगी तो किसे सुनाऊँगी।

"मेरा जन्म एक उच्च एवं प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। मैं अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान थी। अतः मेरे बच-

पन के दिन बड़े ही सुख-चैन से बीत रहे थे। माता-पिता मुझ पर ख़ूब प्यार करते थे। खेलना-कूदना और हँसना-हँसाना ही मेरा काम था; परन्तु विधाता मेरा वह सुख न देख सके। मेरे दुर्भाग्य की ओट में वे वक्र-हँसी से हँस रहे थे; मैं अबोध बालिका उनकी वह वक्र-दृष्टि, उनकी वह क्रूर हँसी न देख सकी! न जानें विधाता जिसे सुखी बनाते हैं, उसे ही आठ-आठ आँसू रुलाने में उन्हें क्यों आनन्द आता है? अभी मैं छः-सात बरस की ही थी कि पिता जी बीमार पड़े। यत्नपूर्वक उनकी चिकित्सा होने लगी; पर 'मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की'—सारी औषधियाँ व्यर्थ हुईं, पूजा-पाठ, जप-अनुष्ठान व्यर्थ सिद्ध हुए; सारे यत्न और परिश्रम पर पानी फिर गया। पिता जी मृत्यु के मुख से न उबल सके। एक दिन वे माता का सुहाग ले, मुझे अनाथ बना चल बसे। माता जी रोती-कलपती रह गईं, मैं बाबू कहाँ गए—बाबू कहाँ गए, कहती हुई बिलबिलाती रह गई। पर उन्होंने किसी की न सुनी। सबसे मोह-ममता त्याग, वे चले ही गए!

उस समय मैं नादान बालिका थी, इसलिए यह न समझ सकी कि पिता का देहान्त कैसी महत्वपूर्ण घटना है, और वह भी उस समय, जब उसके बालक अबोध हों। आज मुझे अनुभव हो रहा है कि वह घटना कैसी गुरुत्वपूर्ण थी। वह पिता की मृत्यु न थी, मेरे जीवन को अन्ध-

कारमय बना डालने वाली घोर तिमिर-रजनी थी। हाय ! पिता जी जीवित रहते तो आज मेरी जीवन-धारा न जानें किस दिशा में प्रवाहित होती। अस्तु, पिता जी चले गए— इससे मेरे जीवन पर तत्काल ही कोई प्रभाव न पड़ा। मैं घर में उसी प्रकार चहकती और फुदकती थी। यद्यपि अब पिता प्यार करने न आते थे; पर प्यार की वह कमी माता के विशेष प्यार से पूरी हो जाती थी। उनके स्नेह-राज्य में मैं पहले-जैसी ही सुखी थी; पर जो सदा की— जन्म की अभागिनी है, उस पर सुख की छाया कब तक रह सकती है ? क्रमशः मेरे सुखमय दिवस का अवसान हो चला और शीघ्र ही दुखमयी अन्धकारयुक्त रजनी का आविर्भाव हुआ, और वह अन्धकारमयी रात्रि इतनी लम्बी होकर आई कि आज तक उसका अन्त नहीं हुआ—यह भी आशा नहीं कि मरने के बाद भी उसका अन्त होगा या नहीं !

सम्पत्ति स्वार्थ की नग्न मूर्ति है। उसे देखकर किसका जी नहीं लहराने लगता ? उसे प्राप्त करने के लिए ज्ञान का पुतला, बुद्धि का आगार, मनुष्य नामधारी जीवधारी कौन-कौन से वीभत्स कृत्य करने के लिए उतारू नहीं हो जाता ? सम्पत्ति-लिप्सा ने इस विराट्-संसार में कैसे-कैसे पैशाचिक कृत्य नहीं कराए ? सम्पत्ति ने समाज में घोर विश्रृङ्खला उत्पन्न कर रक्खी है। वह अशान्ति और भीषण

त्रास की जननी है। वह मनुष्य की सबसे बड़ी घातिका है। मेरी इस दैन्यावस्था का कारण-भूत अनेकांशों में सम्पत्ति ही है। मरते समय पिता जी इतनी सम्पत्ति छोड़ गए थे कि वह हम माँ-बेटी के लिए बिना हाथ-पैर चलाए ही जीवन-भर को बस होती और फिर भी बहुत-कुछ बच रहती; पर वह सम्पत्ति हमारी शान्ति न थी, घोर अशान्ति थी—हमारे जीवन-प्रकाश को ग्रास कर जाने वाली घोर तमोराशि थी। उसके कारण आगे चलकर हमारे घर में ऐसी घोर आँधी उठी कि वह हमारी सारी आशाओं को, सारी उमङ्गों को, सारी प्रसन्नता को, सारी सुख-शान्ति को तिनके के समान उड़ा ले गई। जब आँधी शान्त हुई, तब हमने देखा कि इस विराट् संसार में अकेली माँ खड़ी हैं और उनके पीछे मैं बिलबिला रही हूँ। जीवन-पथ को निराशा के घोर अन्धकार ने ढँक लिया है; और मार्ग बतलाने वाला भी कोई नहीं है।

पति के देहान्त से हिन्दू-नारी जीवित ही मृतक हो जाती है। पति मरने के साथ ही उसकी सारी आशाएँ, उसके सारे सुख अपने साथ ले जाता है, और उसे अग्निमय जीवन व्यतीत करने के लिए, तिल-तिल कर जलने के लिए दुख-शोक की इस क्रीड़ा-स्थली में छोड़ जाता है। पिता की मृत्यु से माता जी कातर हो उठीं। यद्यपि ऊपर शान्ति का सागर लहराया करता था, पर भीतर भीषण

बड़वाग्नि धू-धू करके जल रही थी। अब उनका एकमात्र आश्रय मैं ही थी—मैं ही उनकी शान्ति थी, मैं ही उनका सुख थी। उन्हें रोती देख मैं भी रोने लगती थी, तब उन्होंने रोना-बिलपना बन्द कर दिया। यद्यपि उनके हृदय में गङ्गा-जमुना उमड़ी रहती थीं, पर मुझे देख नेत्र हँसा करते थे। उनका उद्देश्य और उनका सारा यत्न केवल एक था, और वह था मेरा सुख। पर जब मेरा सुख दुख का रूप धारण करने लगा, तब तो उनके धीरज का बाँध एकबारगी ढह गया।

मेरे पिता दो भाई थे। दोनों एक साथ रहते और साथ ही घर का कारबार करते थे। जब तक पिता जी रहे, किसी बात की शिकायत न हुई। चचा अपने बच्चों को पास न आने देते और मुझे गोद में लिए फिरते थे। पिता जी के मरने पर चचा ही घर के स्वामी हुए। पिता जी उनसे कह गए थे—भैया, अब मैं तो चला, यह बच्ची अब तुम्हारी गोद में है। समझना यह भी मेरी ही बच्ची है। अपनी भाभी को भी दुखी न होने देना, अधिक क्या कहूँ ?

पर इस संसार में आँखों की प्रीति है, मुख-देखा व्यवहार है। उधर पिता ने आँखें बन्द कीं, इधर चचा-चची ने तेवर बदले। धीरे-धीरे मैं उनकी आँखों का शूल हो उठी। उनके बच्चे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते, भाँति-भाँति की मिठाइयाँ और खिलौने पाते और मैं उनका मुँह

ताका करती। माता जी यह दोरङ्गा व्यवहार देखतीं, तो उनकी छाती में तीर छिद जाता, वे मन मसोसकर रह जातीं। उनकी आँखें छलछला आतीं और वे मुझे गोद में लेकर बैठ जातीं तथा ठण्ढी साँस ले, ऊपर की ओर ताका करतीं। जब वे चचा से इस विषय में कुछ कहतीं, तो वे उनकी बातों को कानों पर उड़ा देते। उधर चची हम लोगों को जलाने और चिढ़ाने के लिए अपने बच्चों के साथ नित्य नए-नए चोचले किया करतीं। यह देख माता के शरीर में आग लग जाती, उनके हृदय में सौ-सौ बिच्छुओं के दंशन-जैसी पीड़ा होने लगती। जब उनसे न रहा जाता, तब वे चची से कहतीं—बहिन! क्या यह तुम्हारी बेटी नहीं है? मेरी कोई चिन्ता नहीं; पर इसे तो न तरसाया करो।

इस पर वे मुँह फुलाकर उत्तर देतीं—मैं क्या करूँ? पैसा भी तो चाहिए। घर का ख़र्च वैसा ही है और कमाने वाले वे अकेले हैं। पैसा आवे तो कहाँ से आवे?

उफ़! आज इन बातों की याद आने पर हृदय में न जानें कैसी हलचल होने लगती है? कहते हैं, महिलाएँ बड़ी दयावती होती हैं। उनका हृदय बड़ा कोमल होता है, वे दूसरे का दुख नहीं देख सकतीं; पर यहाँ तो स्त्रियाँ ही स्त्रियों पर अत्याचार करती हैं। स्त्रियों को दुख से बिलखती देख, स्त्रियाँ मधुर हँसी हँसती हैं। मेरी माता

दुखियारी थी। उसके हृदय में हाहाकार की मर्म-बेधी ध्वनि हुआ करती थी। मैं अबोध बालिका अपने भाई-बहिनों को खाते-खेलते देख, तरसकर रह जाती थी। चची का कर्त्तव्य था कि वह हमें दुखित देख, हमारे आँसू पोंछती ; पर उलटे वह माता को जलाने, मुझे तरसाने और झिड़कने में ही आनन्द मानती थी। इसका कारण क्या है? केवल पुरुषों की स्वार्थ-लिप्सा! वे स्त्रियों को सुशिक्षा नहीं दिलाते। उनकी सद्वृत्तियों को उत्तेजित नहीं करते, वरन् अपना स्वार्थ साधन करने के लिए उन्हें अज्ञान के अन्धकार में रखना ही उत्तम समझते हैं। अस्तु—

मछली के भी पिता होता है। तब तो आदमी, आदमी ही है। मेरे माल पर घरभर गुलछर्रें उड़ाएँ और मेरी बच्ची मुँह ताका करे—माता जी से यह अत्याचार न सहा गया। अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए वे उत्तेजित हो उठीं। एक दिन उन्होंने चचा से कहा—भाई, तुम इस बच्ची को इस तरह क्यों सताते हो? पहले तो ऐसे न थे। वे इतनी सम्पत्ति छोड़ गए, फिर भी उनकी बच्ची इस तरह तरसा करती है! हमारे कौन बैठा है—तुम्हीं तो हो। साल दो साल के बाद अच्छा घर-बार देखकर इसके हाथ पीले कर देना। रही मैं, सो मुझे क्या करना है, दो रोटियाँ देते जाना। सब सम्पत्ति तुम्हारी ही तो है।

इस पर चचा आँखें तरेरकर बोले—क्या कहा? वे बहुत सम्पत्ति छोड़ गए हैं? कुछ बसन्त की भी ख़बर है? तुम्हें क्या, घर में बैठी-बैठी खाती और हुकुम चलाती हो। बाहर आती-जाती होतीं, तो मालूम होता! इतना क़र्ज़ छोड़ गए हैं कि हाँ! यह धोती भी न बचेगी।

माता ने यह सुना तो अवाक् रह गई। देवर का यह स्वार्थी-रूप देख, उनका माथा चकरा गया। कुछ ठहरकर उन्होंने कहा—देवर! दुखियारी हूँ, मुझे इस तरह न कलपाओ। जालसाज़ी की बातें क्यों करते हो? मुझे सब मालूम है। मैं कुछ तुमसे माँगती तो हूँ नहीं। बेटी के विवाह में कितना ख़र्च होगा और मैं ही कितना खाऊँगी? इतने के लिए क्यों अधर्म कमाते हो?

इतना सुनते ही चचा तमककर बोले—देखो भाभी! मैंने अब तक तुम्हारा रूप रक्खा, कभी तुमसे कड़ी बात नहीं कही, फिर भी तुम मुझे गालियाँ देती हो, मुझे जालसाज़ और अधर्मी कहती हो! आयन्दा ऐसी बात कहोगी तो अच्छा न होगा! जो कुछ मुझे कहना था, कह दिया। ज़्यादा बात करने की मुझे फ़ुरसत नहीं। जो तुम्हें दिखे, करो।

उस दिन से हम लोगों के कष्ट और भी बढ़ गए। चचा-चची मुझे मनचाही गालियाँ देते और कभी-कभी मार भी देते थे। तब मैं माता की शान्तिमयी गोद में चली

जाती और सिसक कर रोने लगती ; पर माता जी कुछ न कहतीं, केवल उनकी आँखों से आँसू बहने लगते। यदि वे कभी कुछ कहतीं भी, तो उन्हें खरी-खोटी सुना दी जाती थी। जब आदमी का दुख बहुत बढ़ जाता है, तब वह कुछ नहीं कह सकता। या तो वह चुप रह जाता है या उसकी आँखों में उसकी हृदय-वेदना सजल होकर छा जाती है। उन दिनों माता की यही हालत रहती थी।

एक दिन चची ने मुझे बहुत मारा। माता से न रहा गया, उन्होंने चची से कहा—बहिन ! तुम्हारे भी तो भगवान् ने बच्चे दिए हैं। क्या तुम्हें इस पर दया नहीं आती ?

चची ने जवाब दिया—रह अभागिन ! शाम होने दे। उन्हें घर तो आने दे, फिर मज़ा चखाऊँगी।

माता को भी क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—बहिन, मैंने तुमसे कहा ही क्या है ? फिर भी तुम मुझे उलटी-सीधी सुनाती हो। यह कहाँ की भलमनसाहत है ?

अब तो चची और भी बिगड़ी। वह माता को लगी मनमानी गालियाँ देने और रोने-पीटने। सन्ध्या होते ही चचा आए। उन्हें देखते ही चची ने रोना-पीटना शुरू किया। जब उन्होंने उससे बहुत पूछा कि आख़िर हुआ क्या ? तब वह बोली—बाबा ! मैंने हज़ार बार कह दिया कि मुझे मायके भेज दो और तुम अपने भाभी-भतीजों को लेकर रहो। ये जेठानी हैं तो मैं कब तक इनकी गालियाँ

सुनती रहूँगी ? दिन-दिन इनका हौसला बढ़ता जाता है। आज इनकी लड़की ने इस छोटे बच्चे को मार दिया। मैंने जो उसे रोका, तो ये मुझी पर बिगड़ उठीं ! लगीं मुझे चाहे जैसी सुनाने और मेरे बच्चों को कोसने। मैंने कहा—जीजी, इन बच्चों को क्यों कोसती हो, ये तो तुम्हारे ही हैं। इस पर ये मुझे मारने दौड़ीं और बोलीं—तू भी मेरे समान राँड हो जा। ये देखो, इनकी लाठी की चोट से मेरे इस हाथ की सब चूड़ियाँ फूट गई हैं।

चचा मानों ऐसे अवसर की बाट ही जोह रहे थे, चची की बातें सुनते ही उनके क्रोध-रूपी महासागर में भीषण ज्वार-भाटा आ गया। ऐसे बिगड़े कि जिसका नाम नहीं। उन्होंने मेरी माता को—जो केवल उन्हीं के आश्रय पर निर्भर थीं, अनगिनती गालियाँ सुनाईं। उन्होंने केवल एक ही बात में हम लोगों के भाग का निबटारा कर दिया—अब इस घर में तेरा निर्वाह न होगा ; जहाँ तेरा सींग समाय, चली जा।

माता कितनी रोईं-गिड़गिड़ाईं, अपने निर्दोष होने की सफ़ाई के लिए उन्होंने कैसी-कैसी सौगन्धें खाईं ; पर दुर्भाग्य की काली रेखा और भी काली होती गई। चचा के कठोर हृदय में तो स्वार्थ-लालसा का तूफ़ान उठ रहा था, उन्हें सच-झूठ से क्या मतलब ? दया-माया से उनका क्या सम्बन्ध ? और भी गरजकर बोले—तू बड़ी सच्ची

है और मेरी स्त्री झूठी है ! अब तुझे यहाँ एक क्षण भी न ठहरने दूँगा।

उधर चची ने मानों घर को सिर पर उठा लिया! फिर तो बड़ा ही कोहराम मचा। पुरा-पड़ोस की अनेक स्त्रियाँ आ पहुँचीं। वे मेरी माता के स्वभाव को ख़ूब जानती थीं, परन्तु आज वे हमारी आपत्ति को और भी घोरतर बनाने आई थीं। ये स्त्रियाँ एक दिन मेरी माता का सम्मान करती थीं, उनकी हाँ में हाँ मिलाकर अपने को भाग्यवान् समझती थीं, परन्तु आज—जब उनका सितारा टूटकर धूलि-धूसरित हो चुका था, ये ही स्त्रियाँ चची की कृपा प्राप्त करने के लिए उसका गुण गातीं। कोई मेरी माता को बुरा-भला कहतीं, तो कोई उपदेश देने की दया दिखाती थीं। यह सब लीला देख, माता हैरान हो रही थीं; मैं मारे भय के उनका अञ्चल पकड़े हुए रो रही थी। हमारी यह दीनावस्था देख, किसी को दया न आती थी। चचा अलग ही माता को घर से बाहर निकाल देने के लिए उतावला हो रहा था। वह आप ही हम लोगों को घर से बाहर कर देने के लिए प्रस्तुत हुआ। उसने माता की चोटी पकड़ी और उन्हें खींचकर बाहर कर दिया। हम माँ-बेटी द्वार पर खड़ी विलाप कर रही थीं, कितनी ही प्रार्थनाएँ करती थीं, हाथ-पैर जोड़ती थीं, पर हमारे आर्त्त-क्रन्दन की ध्वनि द्वार से ही टकराकर रह गई।

हम लोग सुख की गोद में पली हुई थीं। विपत्ति कैसी होती है, यह हम लोग न जानती थीं! परन्तु आज दुर्भाग्य की ठोकर खाकर हम लोग अँधेरी रात में अनाथिनी भिखारिनी के समान सड़क पर खड़ी थीं। हमारे चारों ओर निराशा का सागर लहरा रहा था, उसमें कहीं आशा का एक क्षुद्र तिनका भी दृष्टि न आता था। हमारा दुर्भाग्य रात्रि के घोर अन्धकार से भी घोर हो रहा था, कहीं दूर तक हमें सौभाग्य की क्षीण प्रकाश-किरण भी न दिखाई देती थी। राहगीर आते और हमारी ओर कनखियों से देखकर आगे चले जाते थे। कोई भी हमसे यह पूछने वाला न था कि तुम पर क्या बीत रही है? इस अँधेरी रात में अब हम कहाँ जायँ, किससे सहायता की याचना करें, यह हम लोगों को सूझ ही न पड़ता था। सामने ही हमारा श्री-सम्पन्न घर था; पर हमारे बीच में केवल एक द्वार की—वज्र-द्वार की ओट थी, और हम लोग निराश्रय हो, राज-मार्ग पर खड़ी हुई थीं! माता लाचार हो वहीं बैठ गईं। थोड़ी देर बाद मैं दिनभर की भूखी-प्यासी उनका गोद में सिर रख, धूल में लेट गई। मुझे तो नींद आ गई, पर माता ने तारे गिनकर रात काट दी।

प्रातःकाल हो गया। संसार में सुनहरा प्रकाश लेकर सूर्यदेव का आगमन हुआ, पर वे हमारे लिए केवल अन्धकार ही लाए। हमारे लिए घर का द्वार न खुला।

अब माता जी क्या करें? प्राणों का मोह बुरा होता है। उसके लिए मनुष्य क्या नहीं करता? दूसरों के आगे रोता-गिड़गिड़ाता है। पाषाण-हृदयों से करुण-प्रार्थनाएँ करता है; अपने मानापमान का विचार छोड़कर निर्लज्ज हो, दूसरों के आगे हाथ फैलाता है। मुझे साथ लेकर माता ने भी यह सब किया। वे एक-एक करके सब पुरा-पड़ोस वालों के यहाँ—जाति-बिरादरी वालों के यहाँ गईं। सबको रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाया; पर हमारे उन दुर्दिनों में कोई आड़े न आया।

हाय! संसार ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है, जिनकी आँखें दुखी की सजल आँखें देख खिल उठती हैं। सहानुभूति स्वर्गीय वस्तु है, यहाँ उसका अभाव होना स्वाभाविक ही है। यदि यहाँ उसी का वास होता, तब सब लोग इसे 'दुनिया' ही क्यों कहते? किसी ने कहा—भई, वे ठहरे बड़े आदमी, उनसे कुछ कहना बैर मोल लेना है।

किसी ने कहा—मैं त्रिया-चरित्र ख़ूब जानता हूँ! मैंने सब हाल सुन लिया है। तुम्हें धन के बँटवारे की ऐसी क्या ज़रूरत पड़ी थी, जो उनसे दिन-रात झगड़ा मचाए रहती थीं? जैसा किया, वैसा भोगो। हम क्या करें?

किसी ने कहा—भई, उन्होंने किया तो बुरा, पर तुम्हीं दो बातें सुन लेतीं। उनसे तो कुछ कहना व्यर्थ है, वे किसी की क्यों मानेंगे?

यह समाज की दशा है ! लोग अपने लिए झूठ बोलते हुए भी नहीं डरते ; पर दूसरे के लिए सच बोलने में भी मानों उनके प्राणों पर आ बनती है। एक बात और है, पुरुष चाहे जैसे जाल रचते रहें—स्त्रियों पर चाहे जैसा अत्याचार करते रहें ; पर पुरुष सदा उन्हीं का पक्ष लेते हैं। उनकी दृष्टि में पुरुष सदा निर्दोष ही रहता है। और स्त्री चाहे दूध की ही धोई हुई क्यों न हो, वह सदा अवगुण की खानि है। उसकी सहायता करना—उसका पक्ष लेना, मानों अवगुण की सहायता करना और उसका पक्ष लेना ही है। हे समाज ! यदि तेरे दृष्टि-कोण में यह विभिन्नता न होती—यदि तेरे हृदय में न्याय के लिए रत्तीभर भी स्थान होता, तो हम अबलाएँ आज आठ-आठ आँसू न रोतीं ! तेरी मान-मर्यादा को कज्जल से पोतकर आज हम अपने जीवन को, अपने स्वाभिमान को, अपने स्त्रीत्व को—तेरी इस पवित्र धरोहर सतीत्व को गली-गली कौड़ी के मोल न बेचती फिरतीं। इतनी कथा मैंने तुझे इसलिए सुनाई है कि पुरुष-वर्ग अपनी स्वार्थ-लालसा की पूर्ति के लिए निराश्रया अबलाओं को किस प्रकार सताता है ; और पुरुष-वर्ग किस प्रकार हम लोगों की ओर से दृष्टि फेर, न्याय के साथ उपहास करता है—इसे तू भली-भाँति देख ले।

दूसरी बात यह है कि मेरी समझ में, मेरी बर्बादी

का—मेरे मनुष्य-जीवन को धूलि-धूसरित करने का मूल कारण भी यही पुरुष की स्वार्थ-लोलुपता है ! यदि चचा ने स्वार्थ का वह खेल न खेला होता, यदि समाज ने हमारी ओर दयार्द्र दृष्टि से देखा होता, तो हम माँ-बेटी का भावी जीवन न जानें किस दिशा की ओर प्रवाहित होता।

लोग दूध से मक्खी को निकालकर फेंक देते हैं, और फिर उसकी ओर ताकते भी नहीं। यही दशा हम लोगों की भी हुई। यद्यपि हम लोगों ने कोई पाप नहीं किया था, फिर भी समाज में हमारे लिए कोई स्थान नहीं रहा। माता जी बहुत यत्न करके भी लोगों की सहानुभूति प्राप्त न कर सकीं। वे जितना ही यत्न करती थीं, उतना ही न्याय की गुत्थी सुलझने के स्थान पर उलझती ही जाती थी ; और यद्यपि इस राज्य में न्याय है अवश्य, पर वह सोने के मोल मिलता है। माता जी के पास सोना था नहीं, एक तो चचा बड़े आदमी थे, दूसरे माता के दरिद्र होने से समाज की हम पर वक्र-दृष्टि थी, तब हमें न्याय कैसे प्राप्त होता ? निराश्रय और निस्सहाय के अवलम्ब परमात्मा हैं, सो माता जी उन्हीं के भरोसे अपने भविष्य की चिन्ता करने लगीं।

मरे प्राणी को भी जब धरती का एक कोना मिल जाता है, तब जीवित प्राणी को थोड़ी-सी छाया प्राप्त हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है। माता जी एक छोटा सा घर

भाड़े पर लेकर उसी में रहने लगीं। उनके पास जो एक-दो आभूषण थे, उन्हीं के बेचने से किसी प्रकार हम लोगों की जीविका चलने लगी। इसके सिवाय माता जी को मिहनत-मज़दूरी का भी आश्रय लेना पड़ा। एक दिन वे सम्पत्तिशालिनी थीं, उन्हीं की सेवा करने के लिए घर में कई सेविकाएँ थीं, आज चचा की स्वार्थ-वेदी पर अपना सब कुछ बलिदान कर वे खून के आँसू बहाती हुई, ताँबे के कुछ टुकड़ों के लिए दूसरों की सेवा करतीं और उनके बोल-कुबोल सुनती थीं। पापी पेट के लिए मनुष्य को क्या नहीं करना पड़ता? यह पेट भरना नहीं था, अपने स्वाभिमान को—अपनी आत्मा को क्षुधा की वेदी पर टुकड़े-टुकड़े कर बलिदान कर देना था। इससे माता के दिल पर क्या बीतती थी, यह अनुमान करने की बात है, कहने की नहीं! जब देखो तब उनकी आँखें डबडबाई रहतीं और वे ठण्ढी साँसें लिया करती थीं।

संसार में कुछ भी होता रहे; पर प्रकृति के नियमों में बाधा नहीं पड़ती, उसके कार्य एक गति से होते रहते हैं। सूर्य उगता है, दिन होता है। उसके अस्त होते ही रात्रि आती और अन्त में वह भी चली जाती है। इस प्रकार एक-एक करके मनुष्य के जीवन की तिथियाँ आगे बढ़ती जाती हैं। जब चचा ने घर से निकाला था, तब मैं लगभग आठ वर्ष की थी। अब दुख के दिन बिताते हुए भी मैं

लगभग ग्यारह वर्ष की हो गई। शरीर की स्थिति नूतन परिवर्त्तन की सूचना देने लगी। एक आपत्ति में दूसरी आकर सम्मिलित हुई। माता जी मेरे विवाह के लिए आकुल हो उठीं। कोई सहायक नहीं, हाथ ख़ाली है, अब बेटी के हाथ कैसे पीले होंगे, माता जी के सामने यही चिन्ताएँ आठों पहर रहने लगीं; परन्तु मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि आशा उसका पीछा नहीं छोड़ती।

"माता जी निस्सहाय और निर्धन होने पर भी मेरे विवाह के लिए यत्नशील हुईं। एक दिन जिन लोगों ने उन्हें विपत्ति-ग्रस्त देख हँस दिया था, न्याय की पुकार करते देख उन्हें दुत्कार दिया था, माता जी अपनी कन्या का दान करने के लिए—अपनी आत्मा उन्हीं नर-पशुओं के हाथ सौंपने के लिए, उनके पास जाने लगीं—उन्हीं की चिरौरी करने लगीं। आशा का दृढ़ सूत्र मनुष्य को कैसे-कैसे नाच नचाता है।

माता जी ने एक बार भी यह विचार न किया कि निर्धन को सर्वस्व दान करते हुए भी देखकर लोग हँसते और धनी कौड़ी भी दान न करे तो भी उसकी बड़ाई करते हैं। फिर वे तो अपना दान उन्हें दिखाने गई थीं! जो धनी थे या जिन्होंने उन्हें त्याग दिया था, भला वे उनका दान क्यों ग्रहण करते?" यदि वे माता जी का अपमान न करते, तो आश्चर्य की बात थी।

हाय ! हिन्दू-समाज में बेटी का धन वह खोटा धन है कि आदमी अपमान सहकर भी, खरी-खोटी सुनकर भी, बरजोरी से—अनिच्छा से उसका दान करना ही चाहता है; और जब तक उसे दान नहीं कर देता, तब तक उसकी छाती पर उर्द-मूँग दलते रहते हैं। प्रसन्नता की बात इतनी ही है कि अन्त में किसी न किसी प्रकार से उस निकृष्ट दान को लेने के लिए कोई पात्र न सही, अपात्र ही मिल जाता है। यही बात मेरे विवाह के सम्बन्ध में भी हुई। पहले तो निर्धन और अनाथ की बेटी को दान में लेने के लिए कोई तैयार न हुआ, उलटे सभी ने—किसी ने व्यङ्ग से और किसी ने स्पष्टतापूर्वक उसका तिरस्कार किया; पर अन्त में एक लोलुप कहिए या उदार सज्जन कृपा कर आगे आए। उन्होंने माता की चिन्ता का अन्त कर दिया।

ये सज्जन हमारी बिरादरी में बहुत ही प्रतिष्ठित थे। उनके पास धन की कमी न थी और जाति-बिरादरी में उनकी चलती भी ख़ूब थी। माता ने बड़ी आशा से अनेक बार उन्हें अपनी दुख-कथा सुनाई थी; पर उस समय उन्होंने केवल रूखे उत्तर से ही माता की सहायता की थी। आज समय के फेर से वे हम दुखियों पर बिना प्रार्थना के ही कृपालु हो उठे। एक दिन माता के पास उनका एक आदमी आया और बोला—तुम बेटी के विवाह के लिए इतनी चिन्तातुर क्यों हो रही हो ? तुम्हारी बेटी का भाग्य

इतना खोटा नहीं है कि तुम उसके लिए घर-घर प्रार्थना करती फिरो। क्या हुआ जो तुम्हारे दिन बिगड़ गए! भगवान् चाहेंगे तो फिर तुम्हारे दिन फिरेंगे। उन्हें तुम्हारी दीनावस्था पर बड़ी दया आती है। उनकी बड़ी इच्छा है कि वे तुम्हारी कुछ सहायता करें। तुम्हें मालूम ही है कि हाल में ही उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका है। न हो तो उन्हीं के साथ बेटी के फेरे डाल दो। उनके घर में उनके सिवा दूसरा कोई है नहीं, घर में ख़ूब धन-दौलत है। तुम्हारी बेटी राज-रानी बनकर रहेगी। तुम्हारी इस दीन दशा का भी अन्त हो जायगा। अभी उनकी उमर भी कुछ अधिक नहीं है, जवान हो तो हैं।

यह सुनते ही माता का मुखड़ा आशा के मधुर प्रकाश से जगमगा उठा। कुछ सोचकर उन्होंने उसे जवाब दिया—हम दीनों पर यह उनकी बड़ी कृपा है। अब उनके साथ नातेदारी करने के हमारे दिन नहीं रहे। क्या वे कृपा करके थोड़ी देर के लिए यहाँ आ सकेंगे?

उसने उत्तर दिया—बनना-बिगड़ना अपने हाथ की बात तो है नहीं। भगवान् की इच्छा पर किसका ज़ोर है! तुम इन बातों की चिन्ता न करो। उनका यहाँ तक आना कोई बड़ी बात नहीं है—भला वे क्यों न आएँगे?

उसी दिन सन्ध्या के बाद वे सज्जन हमारी कुटिया में पधारे। माता की आज्ञा से मैं ओट में हो गई। मेरे भाग्य-

निर्णय पर विचार होने लगा। बातें तो बहुत हुईं, पर अन्त में तय यह हुआ कि उनके साथ मेरा विवाह होगा। विवाह का सब ख़र्च वे ही करेंगे और विवाह के बाद हम माँ-बेटी उन्हीं के यहाँ जाकर रहेंगी। उस समय मैं नहीं जानती थी कि यह मेरा विवाह नहीं होगा—होगा मेरे जीवन का बलिदान! हाय! बालकों पर उनकी अबोध दशा में माता-पिता और समाज के कर्णधार विवाह के नाम से कैसा घोर अत्याचार करते हैं। यदि उस समय मैं अबोध न होती, अपने हिताहित का विचार कर सकती होती, तो शायद मैं माता से स्पष्ट कह देती—यह सम्बन्ध मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं है। मैं कुमारी ही रह जाऊँगी, मिहनत-मज़दूरी करके पेट पाल लूँगी, पर ऐसा विवाह न करूँगी। अस्तु, विवाह की बात सुनकर तो मुझे ख़ुशी न हुई, पर इस बात से अवश्य ख़ुशी हुई कि विवाह के बाद मैं अकेली ही वहाँ न जाऊँगी, माता भी मेरे साथ रहेगी; और अब फिर हम लोगों का जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होगा।

मेरे विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। पहले हमारे यहाँ कोई न आता था, अब घर स्त्रियों से भरा रहता था, सब मिलकर ख़ुशी से मङ्गल-गान गाती थीं। अब सभी माता का सम्मान करती थीं। मेरे सौभाग्य की भी ख़ूब सराहना होती थी। अनेक स्त्रियाँ मेरी सेवा करने के लिए

तैयार रहता थीं। नियत तिथि पर बारात आई और ख़ूब धूम से आई। ख़ूब उत्सव हुआ, ख़ूब ज्योनारें हुईं। जो लोग एक दिन हमें घृणा की दृष्टि से देखते थे, हमारी डबडबाई आँखें देखकर भी हमें दुत्कार देते थे, वे ही अब हमारे चारों ओर चक्कर काटते थे, बिना ही कहे हमारा काम इस लगन से करते थे, मानों वह उनका निज का काम हो।

समृद्धि में कैसा आकर्षण है? सुस्वादु भोजनों में कैसी मोहिनी शक्ति है? यदि आज उनकी कृपा से हमारे द्वार पर गुड़ न फेंक दिया गया होता, तो ये ढेर की ढेर मक्खियाँ क्यों भनभनाती होतीं। हाय रे समाज! तुझे केवल भोजनों की ही लालसा रहती है। चाहे किसी का जीवन नष्ट होने जा रहा हो, चाहे कोई रक्त के आँसू बहा रहा हो, पर तेरी दृष्टि केवल मिष्टान्न पर ही रहती है। और यदि तुझे मिष्टान्न की आशा न रहे, तो तुझे दीनों की आर्त्त-वाणी नहीं सुनाई देती, बिलबिलाते हुए दीन-जन तुझे दिखाई नहीं देते! यदि तू आँखें रहते अन्धा न होता, कान रहते बहिरा न होता, तो आज घर-घर यह पत्थर को भी पिघलाने वाली क्रन्दन-ध्वनि ही क्यों होती? पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए, हम अबलाएँ अपने यौवन को कौड़ी के मोल बेचने के लिए—मनुष्य-मात्र की अङ्कशायिनी होने के लिए क्यों लाचार होतीं? अस्तु—

मेरे विवाह की विधि पूरी हो गई। मैं पति के यहाँ चली आई, और मेरी डोली के साथ ही माता जी भी आईं। अब हम लोगों ने एक नए संसार में प्रवेश किया। हम लोग यहाँ की रानी थीं। घर का स्वामित्व अधिकार हमारे हाथ में था। यहाँ न हमें कोई घृणा की दृष्टि से देखने वाला था, न कोई हमारा तिरस्कार करने वाला। सभी हमारा सम्मान करते थे। सम्पत्ति में काया-कल्प करने की अमोघ शक्ति है। हमारे दिन आनन्द-पूर्वक बीतने लगे। अब माता का वह करुण-स्वरूप न था, सदा उनका मुखड़ा खिला रहता था। उनके मन में उमङ्गें लहराया करती थीं। अब मेरे साथ उनका भी सिंगार-पटार हुआ करता था। इस श्री-सम्पन्न घर में आते ही मानों उनके वैधव्ययुत, यातनामय जीवन का अन्त हो चुका था। इस समय उनके अन्धकारपूर्ण जीवन में सौभाग्य का उज्ज्वल प्रकाश हो उठा था। हम लोग अपने उस आकुल जीवन को स्वप्न के समान भूल गईं। सम्पत्ति में कैसी विस्मृति-शक्ति है।

दिन जाते देर नहीं लगती, और सुख के दिन तो शिशिर-दिवस के समान बात करते बीत जाते हैं! मैंने यौवन की सीढ़ी पर पैर रक्खा! मेरे जीवन में बसन्त का आगमन हुआ। मन में नई-नई उमङ्गों का उद्भव होने लगा। वन में पलाश फूले, आम्र वृक्षों में बौर आया,

पुष्पों की मधुर सुगन्ध से दसों दिशाएँ महक उठीं, मधु-लोभी भौंरे गुन-गुन करके उन पर गूँजने लगे, मस्तानी कोयल इठलाती हुई 'कुहु-कुहू' करके कुञ्जों में कूकने लगी, प्रकृति मुखरित हो उठी—चारों ओर एक नवीन आनन्द—एक नवीन उल्लास था। बसन्त का समय कैसा लुभावना होता है? परन्तु मेरे जीवन में बसन्त पतझड़ लेकर आया। वह आनन्द का सन्देश न लाकर, निराशा और क्षुब्धता का समाचार लाया। मन की उमङ्गें मन में ही नष्ट होने लगीं। आशा की मञ्जरी पर विकास के पहले ही निराशा की आँधी आ टूटी। जिस पुष्प पर भौंरे की गुन-गुन न हुई, उसका खिलना न खिलना बराबर ही है। वह कली किस काम की, जिसको देखने वाला—जिसका रस चखने वाला कोई न हो।

उन दिनों मेरे पति की आयु लगभग चालीस वर्ष की होगी। उनके सिर के बाल खिचड़ी हो गए थे, उन्हें देखकर मेरे जी में तनिक भी उल्लास न होता था। मैं मन ही मन सोचने लगती थी—माँ ने यह क्या किया, जो मुझ लड़की को इस अधबुढ़ के गले से बाँध दिया। अभी मैं चौदह-पन्द्रह बरस की हूँ और ये चालीस के हैं। जब मैं बीस की होऊँगी, तब तक ये पचास के पास पहुँच जायँगे। इनके साथ मेरा जीवन कैसे बीतेगा? इतने पर भी एक विचित्र बात यह थी कि पतिदेव एक प्रकार से मेरी उपेक्षा

करते थे। एक तो मेरी इच्छा ही उनसे बात करने को न होती थी, दूसरे वे कभी आते भी तो शीघ्र ही चले जाते थे; परन्तु इससे मुझे न तो प्रसन्नता ही होती थी और न अप्रसन्नता।

इन्हीं सब बातों से मेरा जी उदास रहने लगा। मेरी उमङ्गें मन में उसी प्रकार टकराकर रह जाती थीं, जिस प्रकार आँधी पर्वत से! हृदय प्रेम का प्याला था, पर प्यास बुझाने का साधन मेरे पास न था! चित्त एक प्रकार की उष्णता, क्षुब्धता और निराशा से बेचैन रहता था। धीरे-धीरे मेरी उदासी बढ़ती गई। माता मेरी स्थिति ताड़ गईं। वह मेरी प्रसन्नता के लिए सचेष्ट हुई, पर मेरी स्थिति में रत्ती-भर भी अन्तर न हुआ। जब-तब पतिदेव से भी भेंट हुआ करती थी, पर इससे मेरी आकुलता का अन्त न हुआ। उलटे मेरे अन्तराल में अतृप्ति भीषण हाहाकार कर उठी! हृदय प्रेम-प्राप्ति के लिए उद्विग्न हो उठा! वासना की अग्नि दिन-दिन ज्वालामयी होने लगी। मैं मन ही मन सोचती थी—क्या मेरी जोड़ी ठीक है? इन अधबुढ़ लोगों को किशोरी कन्याओं के साथ विवाह करने का क्या अधिकार है? यदि किसी नवयुवक के साथ अधेड़ विधवा का विवाह किया जाय, तो कैसा रहे? पुरुष अपने से कम आयु की—बिलकुल अल्पायु स्त्री को प्राप्त करने का क्यों इच्छुक होता है? एक कुमारी कन्या को वह क्यों भ्रष्ट

करता है ? अपनी आयु से अधिक आयु वाली स्त्री को वह क्यों नहीं अपनाता ? अस्तु—

एक दिन की बात है कि मेरी जीवन-धारा एकाएक नवीन दिशा में प्रवाहित हो उठी। यह सच है कि मेरा मन इस अधेड़ पति से दूर रहना चाहता था, मेरी आकुल वासनाएँ तड़प-तड़पकर हृदय में ही रह जाती थीं ; पर अब तक हृदय पवित्र था, उसमें कभी खोटे मार्ग पर चलने के विचार भी उत्पन्न न हुए थे। मेरी अतृप्त वासना प्रबल-रूप से जाग्रत हो उठी। मैं अपने आपको न सँभाल सकी और मुस्कराती-मुस्कराती पतन के उस गहरे गड्ढे में जा गिरी, जहाँ से अब तक मेरा उद्धार न हो सका— शायद मरने के बाद भी न हो सकेगा। एक दिन मैंने देखा कि मेरी माता मेरे पति से आलिङ्गन कर रही है। यह देखते ही मानों मुझे काठ मार गया। हे भगवान्! यह क्या देख रही हूँ ? क्या यह मेरी वही माता है, जिसका हृदय मुझे उदास देखते ही दयार्द्र हो उठता था ? मुझे रोती देख जो स्वयं रोने लगती थी ; आप कष्ट सहती थी, पर मुझे सुखी देखना चाहती थी ! यद्यपि मेरे हृदय में पति के लिए कणभर भी स्थान न था, पर अपने अधिकार की इस प्रकार हत्या होते देख मेरे शरीर में आग लग गई। माता और पति से मुझे अत्यन्त घृणा हो गई; पर मैं मन का क्रोध मन में ही दबाकर रह गई।

जब मेरा क्रोध कुछ शान्त हुआ, चित्त ठिकाने पर आया, तब मैं अपनी स्थिति पर विचार करने लगी। माता विधवा है, इसकी तैंतीस-चौंतीस वर्ष की आयु है, फिर भी इसका यह हाल है। यह अपने मन को वश में नहीं कर सकती! कुछ दिन पहले जो सदाचारिणी थी, वही अब अपने पति की पुण्यमयी स्मृति को परित्याग कर सधवाओं के समान रहती है—पर-पुरुष के साथ—वह भी पुत्र-समान दामाद के साथ विषय-भोग का आनन्द लूटती है! मनुष्य-हृदय कैसा अस्थिर है—वह वृत्तियों का कैसा सेवक है! और यह मेरा पति है, मुझे पत्नीत्व के बन्धन में बाँध, यह पर-स्त्री के साथ अपने जीवन को अपवित्र कर रहा है! इसे अपना मुँह काला करने को और कोई न मिली—मिली सगी सास, जो पद में माता के समान है! मैं इसकी पत्नी हूँ—धर्म-पत्नी हूँ। पति के रहते हुए भी मैं विधवा या कुमारी के समान जीवन व्यतीत कर रही हूँ! मेरा यौवन-पुष्प विकसित हो रहा है, हृदय में कैसी-कैसी तरङ्गें उठतीं और जहाँ की तहाँ विलीन हो जाती हैं। मेरी आशाओं की नित्य हत्या होती है। रात्रि आती है, आकाश के विस्तृत अञ्चल में असंख्य तारागण उदय होते और मुस्करा-मुस्कराकर क्रीड़ा करते हैं! मैं आँखें फाड़-फाड़ कर रात्रि-भर उनकी क्रीड़ा देखती और ठण्ढी साँस लेकर रह जाती हूँ! चन्द्र अपनी प्यारी चन्द्रिका के साथ आता

और रस बरसाकर चला जाता है। उसके मधुरालिङ्गन से कुमुदिनी खिल उठती और अपने जीवन को धन्य समझती है! एक अभागिनी मैं हूँ, मेरी जीवन-निशा कैसी अन्धकारमयी है। क्या कभी मेरी जीवन-निशा में भी चन्द्र का उदय होगा? क्या उसकी सरस किरणों के मधुर, स्नेहमय और शीतल आलिङ्गन से मेरी हृदय-कुमुदिनी भी खिलेगी?

हाय! यह मेरी माता है? नहीं-नहीं, यह मेरी जन्म-जन्म की बैरिन है! जिसकी उमर ढल रही है, जो केवल विलास का कीड़ा है, जिसके हृदय में पवित्र प्रेम-रस का एक बूँद भी शेष नहीं है, ऐसे नारकीय जीव के हाथ मेरी माता ने—बैरिन माता ने मुझे क्यों सौंप दिया? मेरे कुसुम-जैसे कोमल जीवन पर इन लोगों को ऐसा घोर अत्याचार करने का क्या अधिकार था? ये जीवन-सुख लूटते हैं, आमोद-प्रमोद में लिप्त रहते हैं, और मैं इनकी विलास-लीला देखा करती हूँ! क्या मेरी आँखें इसीलिए बनाई गई थीं? क्या मेरा शरीर यही नारकीय लीला देखने के लिए तथा नाना प्रकार से घुल-घुलकर मरने के लिए बनाया गया था?

यही सब सोचते-सोचते मेरे हृदय में मानों घोर हाहाकार-ध्वनि हो उठी! मैं प्रेम-रस का पान करने के लिए उन्मत्त हो उठी। विषय-वासना की जाग्रति प्रबल

वेग से जाग्रत हो उठी। विलासमय जीवन का आनन्दमय दृश्य मुझे प्रलोभन देने लगा! इसके साथ ही प्रतिकार की ज्वाला भी हाहाकार करके धधक उठी! जब ये लोग मेरे कोमल हृदय को ऐसी पैशाचिकता से मसल रहे हैं, तब मैं इनकी कौन होती हूँ? मैं क्यों तड़पते-तड़पते शीतल शय्या को अग्निमयी बनाऊँ? ये जीवन का आनन्द लूटते हैं, तो मैं क्यों उससे वञ्चित रहूँ? पतन का कैसा प्रबल प्रवाह है! पतन के प्रबल प्रवाह को रोकने की किसमें शक्ति है? उसी दिन से मेरे जीवन की धारा बदल गई? मैं शनैः-शनैः विषय-तृप्ति के मार्ग में आगे बढ़ने लगी। अब यद्यपि मेरे हृदय में पहले-जैसी हलचल—पहले-जैसी जलन न थी, फिर भी मुझे शान्ति न थी! हृदय अब भी किसी वस्तु की चाट में भटका करता था। और वह चाह आज तक पूर्ण न हुई! अस्तु—

एक दिन माता जी मेरे पास आ बैठीं। उस समय उनका मुखड़ा उतरा हुआ था। आँखें डबडबाई हुई थीं। उनकी दशा देखते ही मैं सहम उठी। मैंने पूछा—माँ, क्या बात है?

मेरे प्रश्न से मानों उनके हृदय की व्यथा उबल उठी, धीरज का बाँध ढह गया; आँखें चौधार बहने लगीं। उन्होंने मुझे हृदय से लिपटा लिया! वह हृदय के सारे सञ्चित स्नेह को समेटकर बोलीं—बेटी! तुझे अकेली छोड़-

कर मैं जाती हूँ—मैंने विष खा लिया है। तुम किसी से यह बात न कहना।

मेरी छाती धड़क उठी। मैं उसके सब आचरण भूल गई। उससे घबराकर पूछा—माँ! तुम्हारे चित्त में ऐसी कौन-सी बात समाई, जो तुमने विष खा लिया और मुझे अकेली छोड़कर जा रही हो।

वह बोली—बेटी! मैं तुम्हारी माँ नहीं हूँ! मुझमें माँ होने योग्य कोई गुण नहीं है! मैं तुम्हारी बैरिन हूँ! मैंने तुम्हारे सौभाग्य-चन्द्र को राहु के समान ग्रस कर, तुम्हारे जीवन को घोर अन्धकारमय कर दिया है! कहते हृदय टूक-टूक होता है, लज्जा के बोझ से ज़बान दबी जाती है! पर छाती पर पत्थर रखकर सब कुछ कहूँगी! बेटी, क्या मेरे अन्तकाल में मुझे एक भिक्षा दोगी—मेरा अपराध क्षमा करोगी?

मेरी आँखें भर आईं! मैंने कहा—माँ, कुछ भी हो, हो तो तुम मेरी माता ही, जो कुछ कहना हो, निस्सङ्कोच होकर कहो! बेटी से क्षमा कैसी?

तब वह बोलीं—"बेटी! मैं तुम्हारी माता हूँ—कौन कहता है कि मैं तुम्हारी माता हूँ? नहीं-नहीं, मैं तुम्हारी सौत हूँ—सगी सौत हूँ! मैंने तुम्हारे साथ ऐसा घोर पाप किया है, जैसा कोई माता अपनी बेटी के साथ कभी नहीं कर सकती! पर बेटी! विश्वास करना, मैंने यह घोर

पाप—यह घोर पैशाचिक कृत्य अपनी इच्छा से नहीं किया, बड़ी लाचारी में पड़कर किया !

"मैं बड़ी आशा से इस घर में आई थी। सोचा था, इस स्वर्ग में आकर अपने दुखी जीवन को शान्ति से बिता दूँगी। पर नहीं जानती थी कि यह स्वर्ग मेरे लिए—तुम्हारे लिए नरक से भी बढ़कर दुखदायी सिद्ध होगा ! तुम्हारे स्वार्थी और निर्दयी चचा ने मुझे घर से निकाल दिया था, तब तुम्हें साथ लेकर मैं कैसी मारी-मारी फिरी, कैसी-कैसी मुसीबतें झेलीं ; फिर तुम कुछ स्यानी हुई, तो तुम्हारे विवाह के लिए मैंने कैसा यत्न किया, ये सब बातें तुमसे छिपी नहीं हैं। जब निरुपाय हो गई, तब यह नर-पशु सदय रूप लेकर मेरे द्वार पर आया ! इसने मुझसे तुम्हारी भिक्षा माँगी। जानती थी कि यह तुम्हारे उपयुक्त वर नहीं है, पर अन्य उपाय तथा आश्रय न देख मैंने इसके साथ तुम्हारा विवाह कर दिया। सोचा था, तुम्हें विशेष सुख न होगा तो कुछ दुख भी न होगा। पर नहीं जानती थी कि सोने के सुन्दर कलश में हलाहल विष भरा है, जिसके पीने से हमारी मृत्यु—शोचनीय मृत्यु हो जायगी। एक दिन अँधेरी रात्रि में यह मेरे सञ्चित धन को लूटने की कोशिश करने लगा। जब मैं सो रही थी, तब यह नर-पशु मेरे पास आया ! हाय ! मेरे निर्बल हाथ और निर्बल मन-प्राण उस अपूर्व धन की रक्षा करने में असमर्थ हुए। उस

समय मुझे मालूम हुआ कि क्यों इस पापी ने हम पर यह सदय दृष्टि की है। मैंने इससे कितनी ही प्रार्थनाएँ कीं, इसके आगे कितनी रोई-गिड़गिड़ाई, पर यह न माना। बोला—तुम्हारे रूप ने मुझे पागल बना डाला है। न मानोगी तो तुम्हें बदनाम करूँगा, तुम्हें और तुम्हारी लड़की को घर से निकाल दूँगा और वह हाल करूँगा कि जिसका नाम × × ×

"लोक-लाज और हृदय की दुर्बलता ने मुझे ठग लिया। मेरे चारों ओर निराशा का वह समुद्र लहरा रहा था, जिसमें आशा का एक तिनका भी दृष्टि न आता था। निस्सहाय हो मैंने इसके हाथ में अपना सतीत्व-रत्न सौंप दिया! हा बेटी! उस समय मेरे मन पर कैसी बीत रही थी, इसे मैं ही जानती हूँ। मनुष्य-हृदय की निर्बलता से मैं न सँभल सकी, क्रमशः उसके रङ्ग में रँग गई! तुम्हें नहीं मालूम, मैं एक बार गर्भ गिरा चुकी हूँ! इस बार मुझे फिर गर्भ रह गया है! अब इस जीवन से मुझे घृणा हो गई है, जीवन मुझे भार-रूप हो गया है! तुम्हारा उतरा हुआ मुखड़ा देखती हूँ, तो मेरी छाती फटने लगती है! मेरे पाप के कारण ही तुम्हारा फूल-जैसा शरीर मुरझाया जा रहा है! मेरी मृत्यु से शायद तुम सुखी हो सको! इन्हीं सब बातों को सोचकर, मैंने विष खा लिया है! और अब अपने इस यातनामय पापिष्ठ शरीर को त्याग-

कर उस लोक में जा रही हूँ, जहाँ न्याय का राज्य है, जहाँ समाज के ऐसे घोर अत्याचारों का अन्त हो जाता है, और जहाँ स्वार्थ की वेदी पर दीन-अनाथों का निर्ममतापूर्वक बलिदान नहीं किया जाता ।"

माँ की यह लाञ्छनामयी करुण-कथा सुनकर मेरा हृदय भर आया । मैं उनसे लिपट गई और खूब फूट-फूट कर रोई । जब हृदय का आवेग कुछ शान्त हुआ, तब मैंने उनसे कहा—माँ, विष खाने के पहले मुझसे एक बार तो कहा होता । नहीं, मैं तुम्हें मरने न दूँगी । अत्याचारियों से बदला लूँगी । उन्हें रुला-रुलाकर मारूँगी । उनके रक्तमय आँसुओं से तुम्हारा दग्ध-हृदय सींचूँगी । मैं अभी डॉक्टर बुलवाती हूँ ।

उनके बहुत मना करने पर भी मैं न मानी । माँ का उपचार होने लगा । परन्तु सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं—मैं उन्हें मृत्यु के मुख से न बचा सकी ।

माँ के मरने से मुझे दुख के साथ ही साहस की विलक्षण स्फूर्ति प्राप्त हुई । मैंने सोचा— हमारी इस दुर्गति का कारण क्या है ? हमारी कमज़ोरी, पुरुषों का अत्याचार और समाज का मुँह-देखा व्यवहार ! यदि चचा ने हमें घर से न निकाला होता, यदि समाज ने हमारी सहायता की होती, तो हम क्यों गली-गली ठोकरें खाती फिरतीं ! इसी पापी से माँ ने सहायता के लिए कितनी

बार प्रार्थना की थी; पर उस समय इसके कानों पर जूँ भी न रेंगी थी। और जब इसका स्वार्थ सामने आया, तब यह कैसी निर्लज्जतापूर्वक उनसे याचना करने जा पहुँचा और सारा समाज इसका सहायक हो गया। फिर इसी ने माता का सतीत्व लूटा; इसी के कारण माता पाप के बोझ से शोचनीय मृत्यु को प्राप्त हुई, इसी के कारण मेरा जीवन धूल में मिल रहा है। फिर भी समाज ऐसे पापियों को गले लगाता है! वह लगाता है तो लगाता रहे; पर मैं तो ऐसे पापियों को लातों ही से ठुकराऊँगी! आह! नारियों पर कैसा घोर अत्याचार किया जाता है, और वे उसे चुपचाप सहा करती हैं! पर मैं तो न सहूँगी! मारे क्रोध के मेरा शरीर भन्ना उठा, आँखों से अग्नि-कण उड़ने लगे। माता का देहान्त हो ही चुका था, अब उसका सङ्कोच न था, मैंने प्रकट कर दिया कि मेरी माँ की मृत्यु का कारण मेरा पति है, इसी के अत्याचार से त्रसित होकर उसने विष खाकर प्राण छोड़ दिए। मैंने अनुमान किया था कि इस बात के प्रकाशित होते ही समाज में हलचल मच जायगी। समाज पति को कुछ न कुछ दण्ड अवश्य देगा। शायद राज्य की ओर से भी कुछ कारवाई हो, परन्तु वह था बड़ा आदमी, मेरा उद्योग व्यर्थ गया। पर इससे मैं हताश न हुई।

मेरा साहस और भी बढ़ गया। प्रतिकार की चिन्ता मुझे चिन्तित करने लगी! जब मुझे अपने उन दुखमय

दिनों की याद आ जाती, माता की वह शोचनीय मृत्यु मेरी आँखों में झूलने लगती, अपने यौवन की यह पतितावस्था देखती, तब तो मारे क्रोध के मैं पागल-जैसी हो उठती, प्रतिकार की प्रबल लालसा मेरे हृदय में हलचल मचा देती; परन्तु मुझ निर्बल, पराश्रित स्त्री के हाथ में समाज से—विशेषतया पति नामधारी शत्रु से बदला लेने की शक्ति कहाँ थी! मेरे पास केवल एक उपाय था—अपने जीवन को मिट्टी में मिला देना—द्रुत गति से पतन के मार्ग पर चल देना। पति को सताने और चिढ़ाने का इससे अच्छा साधन मेरे पास दूसरा न था। मैं ख़ूब जानती थी कि जिस पतन-मार्ग को मैंने स्वीकृत किया है, वह केवल मृगजल की पिपासा है, और उस पर द्रुत-गति से गमन करना, अपने जीवन को शीघ्र ही नष्ट करना है। फिर भी कुछ तो अपनी उद्दाम वासना की तृप्ति के विचार से और कुछ बदले की भावना से प्रेरित होकर, मैं पतन के मार्ग पर—उस कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चल पड़ी—वेग से चल पड़ी।

पहले मैं छिपकर पाप करती थी, पर अब हृदय में पैशाचिक बल का आविर्भाव हो चुका था, तब डरने की क्या आवश्यकता थी? मेरा रहस्य पति से छिपा न रहा—मैं उसे छिपाना भी न चाहती थी। माता की मृत्यु के बाद से ही मैंने पति को त्रसित करने का सङ्कल्प कर लिया

था। उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करना मेरा साधारण कृत्य था, और इससे अप्रसन्न होकर यदि वह कुछ कहता भी, तो मैं भी उसे ख़ूब खरी-खोटी सुनाती थी, घर में नित्य देवासुर-संग्राम की धूम मची रहती थी। इससे मुझे विलक्षण प्रकार की शान्ति प्राप्त होती थी; परन्तु जब मेरा रहस्य प्रकट हुआ, तब तो उसका माथा ठनका—बड़ी ही चिन्ता में पड़ा। मैं उसके शासन को तुच्छ समझती ही थी, अतः उसने मुझसे बड़ी नम्रता से कहा—तुम प्रतिष्ठित कुल की बहू-बेटी हो, क्या तुम्हें ऐसा आचरण शोभा देता है? इससे मेरी, तुम्हारी और दोनों कुलों की बड़ी अप्रतिष्ठा होती है। मेरे बाल सफ़ेद हो रहे हैं, क्या तुम इस सफ़ेदी की लाज न रक्खोगी?

मैंने उत्तर दिया—हे प्रतिष्ठित कुल के, दूध के धोए सपूत! जानते हो, तुमने मेरे साथ कैसा घोर अन्याय किया? तुमने मेरे हृदय में वह अग्नि लगा दी है, जिसे शान्त करने में महासागर की विशाल तरङ्ग-मालाएँ भी असमर्थ हैं। मेरी माता के शुभ एवं पवित्र जीवन में पाप की स्याही किसने पोती है? उसके जीवन का नाश किसने किया है? उसकी शोचनीय मृत्यु का पाप किसकी गर्दन पर है? माना कि वह तुमसे आयु में कम थीं; पर तुमने धर्म की दुहाई देकर उन्हें माता के तुल्य बना लिया था, फिर भी तुमने उनके साथ कैसा पापमय कृत्य किया?

तुम संसार की दृष्टि छिपाकर पाप करते रहे, पर मैं संसार की दृष्टि की परवाह नहीं करती। बस, यही मुझमें और तुममें अन्तर है। कहो, मैं क्या बुरा कहती हूँ?

तब वह बोला—अच्छा, मैं पापी हूँ; पर क्या इस पापी पर दया न करोगी? यह कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं।

पर मेरे अट्टहास से हवेली गूँज उठी। मैंने उत्तर दिया—अवश्य तुम पर दया करूँगी। तुम मेरा पाप देखने के लिए यहाँ न रहने पाओगे। तुम्हारी प्रतिष्ठा बनी रहे, इसलिए शीघ्र ही तुम्हें वहाँ भेजने का बन्दोबस्त करूँगी। कहो, अब तो तुम्हारे मन की बात कह दी!

मेरी बातें सुनकर उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। मैं वहाँ से चली गई।

इसके बाद मैंने पति को विष दिया—मीठा विष दिया, जिससे वह घुल-घुलकर मरे—कुत्ते की मौत मरे, अपने किए का भरपूर फल भोगे। जिस समय वह कराहता था, दुख-दर्द से छटपटाता था, एक-एक बूँद पानी के लिए तरसता था, उस समय मेरा रोम-रोम खिल उठता था। मैं उससे कहती थी—हे कुलीन, पुण्यात्मा जीव, नारियों के सतीत्व से खेलवाड़ करने वाले चतुर खेलाड़ी! इसी तरह कलप-कलपकर मरो, ग़म खाओ और रक्त से भरे हुए आँसुओं का पान करो—यही तुम्हारे लिए सर्वोत्तम पथ्य है!

अन्त में इसी प्रकार तरस-तरस कर मर गया और मैं अपने आनन्द-सम्भोग में तल्लीन रही। अब मेरा रास्ता साफ़ था, मैं पूर्ण स्वच्छन्द थी, तितली की नाईं हवेली में फुदकती फिरती और सुन्दर-सुन्दर पुष्पों का रसपान करती थी; परन्तु मेरी विलास-लालसा की तृप्ति न हुई। मैं ज्यों-ज्यों तृप्ति प्राप्त करना चाहती थी, त्यों-त्यों अतृप्ति बरसाती नदी के समान विराट् रूप धारण करती जाती थी। और क्यों न करती? उद्दाम विलास-लालसा में कब किसने तृप्ति प्राप्त की है? उद्दाम विलास-लालसा स्वयं अतृप्ति की मोहनी मूर्त्ति है। मैं उसकी छलता से अपने को कैसे मुक्त कर सकती थी? तृप्ति है आत्म-सन्तोष में, और आत्म-सन्तोष का वास है पवित्र प्रेम में। समाज की घातक नीति ने मुझे पवित्र प्रेम से दूर कर दिया! उसने मुझे ऐसी जगह खड़ी कर दिया, जहाँ केवल लालसा की निर्झरिनी अपनी कलकल ध्वनि से बहती जा रही थी। वह कलकल ध्वनि सुन मैं उन्मत्त हो उठी। सोचा, इसके इस निर्मल नीर से मेरे मन-प्राण शीतल हो उठेंगे। बस, मैं उसके तीर पर जा पहुँची; पैर फिसला, मैं अपने को न सँभाल सकी, उसी में बहने लगी; और बहते-बहते ऐसी भीषण धारा में जा पहुँची, जहाँ से उद्धार की आशा करना केवल दुराशा-मात्र है। आज मैं इसी भीषण धारा में अपना प्राणान्त करूँगी। आज यही मेरी उद्दाम विलास-

लालसा की, अतृप्त वासना की और इस पापमय शरीर की चिता-भूमि तैयार होगी।"

हे समाज! यही मेरी वेदनामयी कथा है। मैं मानती हूँ कि मैंने घोर पाप किया है, उस पाप का यथेष्ट दण्ड भी भुगत रही हूँ; और इस थोड़ी-सी आयु में ही य.. विडम्बनामय संसार छोड़कर जा रही हूँ। यद्यपि मैं मृत्यु-पीड़ा से छटपटा रही हूँ, तो भी मुझे एक बात से थोड़ा सन्तोष है कि मैंने अपने शत्रु से बदला ले लिया है। हे समाज! मैं जानती हूँ कि तू मुझसे घृणा करेगा, पर कृपा कर यह तो बता कि मुझे पाप के .पङ्क में किसने फँसाया? यदि तूने आरम्भ में ही मुझ पर दया की होती—अनमेल-विवाह के रूप में मेरे सौभाग्य में आग न लगा दी होती, तो क्या मेरा जीवन यों बर्बाद होता? कितने जीवन तेरी कृपा से नित्य धूलिसात् हुआ करते हैं। इसे तू देखकर भी नहीं देखता! देखता भी है तो अपने को निर्दोष समझता है। हाय! तू कब अपने दोष देखेगा—कब तेरी आँखें खुलेंगी?